# एकान्त

नेमिचन्द्र जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

Purchased at Delhi
Feb. March – 1987

# एकान्त

•

नेमिचन्द्र जैन

•

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ३४७
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन, जगदीश, डॉ. विमलप्रकाश जैन

प्रथम संस्करण १९७३
द्वितीय संस्करण १९८१

Lokodaya Series : Title No. 347
EKAANT
*( Poems )*
Nemichandra Jain
Second Edition : 1981
**Price : Rs. 10/-**



एकान्त
( कविता )
नेमिचन्द्र जैन
आवरण
जतीन दास
प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
द्वितीय संस्करण : १९८१
मूल्य : दस रुपये
मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००१

गजानन मुक्तिबोध की
स्मृति के लिए

# क्रम

# भूमिका

आख़िरकार मेरा यह कविता-संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यह जैसा भी है, इसके बारे में अपनी तरफ़ से और कुछ कहना कोई खास मानी नहीं रखता। बल्कि कई बार तो कवि का अपने संग्रह की भूमिका लिखना निहायत ग़ैर-ज़रूरी और ग़लत हो जाता है, क्योंकि अकसर उसके कारण पढ़नेवालों का ध्यान कविता से अधिक कवि के वक्तव्य में उलझने लगता है। फिर भी कई कारणों से इस संग्रह के बारे में कुछ बातें कहना अनिवार्य हो गया है।

एक तो यही कि आज के अधिकांश पाठकों को इसके पुराने और शायद इसीलिए बेमानी लगने की सम्भावना के बावजूद, मैंने इसे छपाने का ही फ़ैसला किया, क्योंकि अन्ततः इस नियति से बचना बहुत युक्ति-संगत नहीं लगा। पहले प्रकाशित होने पर भी इसका यही हश्र हो सकता था। किसी भी प्रकार की रचना के माध्यम से अपने-आपको समझने की कोशिश में यह ख़तरा ज़रूरी तौर पर सदा ही मौजूद रहता है।

दूसरे, लगभग पैंतीस-चालीस साल के कवि-जीवन में यह पहला संग्रह होने के कारण, इसमें १९३७ से लेकर १९६७ तक को, प्रायः तीस वर्ष के बीच लिखी गयी कविताएँ एक साथ प्रस्तुत हैं। इनमें से कुछ 'तारसप्तक' के मूल और फिर दूसरे संस्करण में छप चुकी हैं। उन्हें यहाँ फिर से शामिल करने और छोड़ देने—दोनों में ही धर्म-संकट था। अन्त में यही तै पाया कि किसी अन्य स्वतन्त्र संग्रह में ये प्रकाशित नहीं हुई हैं, इसलिए यहाँ इन्हें शामिल करना बहुत बड़ी ज़्यादती शायद न समझा जाये।

इतने लम्बे दौर की कविताएँ एक साथ रखने में यों भी कई ज़ाहिर कठिनाइयाँ हैं। उनमें एक साथ ही कवि और कविता की इतनी सारी बदलती हुई स्थितियाँ सिमट आना स्वाभाविक है कि एक ओर वे एक-दूसरे को असंगत कर दें, और दूसरी ओर किसी भी दौर की संवेदना के निकट होनेवाले पाठक के लिए अजनबी रह जायें। एक तरह से यह संकट इतने दिनों बाद इन कविताओं को छपाने में निहित ही है। फिर भी कवि के मन में अमूमन यह अहसास बना रहता है कि चाहे जितनी देर से सही, कुछ लोग ऐसे ज़रूर होंगे जिन्हें ये

कविताएँ पूरी तरह अजनबी नहीं लगेंगी। बहरहाल, और कुछ नहीं तो एक दौर का रिकार्ड दुरुस्त कर देने के खयाल से ही शायद इन कविताओं की कुछ प्रासंगिकता ज़रूर होगी। इसीलिए इन्हें तारीखवार क्रम में रखा गया है जो कविताएँ प्रस्तुत करने का बहुत उपयुक्त ढंग नहीं है। मगर लगा कि इस तरह शायद इनका अपने सन्दर्भ में देखा जाना अधिक सम्भव हो।

इस संग्रह की कई एक कविताओं में ऐसी कुछ वैयक्तिक अथवा बाहरी सन्दर्भों की अनुगूँजें हैं जो शायद पकड़ में न आयें। जैसे 'छब्बीस जनवरी' के स्वाधीनता आन्दोलन के फ़ासिज़्म-विरोधी दौर में लिखे जाने का हवाला मैंने उस कविता के साथ ही दिया है। पर 'कट न जायें डोरियाँ विश्वास की' और 'शिखर' की पृष्ठभूमि कम्युनिस्ट नेता पूरनचन्द्र जोशी के साथ पार्टी में होनेवाला दुर्व्यवहार है। 'पत्र' स्वर्गीय गजानन मुक्तिबोध का एक पत्र पाने पर लिखी गयी थी। इन कविताओं की अच्छाई-बुराई का इन सन्दर्भों से कोई सम्बन्ध नहीं और न यह जानकारी इन्हें पढ़ने के लिए ज़रूरी ही है। फिर भी शायद इससे इनकी एक और प्रासंगिकता उजागर हो सकती है।

जाहिर है, ये मेरी सारी कविताएँ नहीं हैं। पर एक तरह से, शुरू के दौर को छोड़कर, अधिकांश वे कविताएँ इस संग्रह में आ गयी हैं जो मुझे किसी हद तक प्रकाशनीय लगीं। असम्भव नहीं कि यह प्रकाशन कुछ और भी लिखे जाने तथा कुछ पहले ही लिखे गये को प्रासंगिक बनाने में सहायक सिद्ध हो। जो हो, ये कविताएँ अब आपके सामने हैं और मैं इनके बारे में प्रत्याशित-अप्रत्याशित हर प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए खुले मन से बेझिझक तैयार हूँ।

इस संग्रह के प्रकाशन के सन्दर्भ में बन्धुवर शमशेर के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करना मैं बहुत ज़रूरी समझता हूँ। दरअसल, अन्य कई स्नेही मित्रों के अलावा, वे ख़ास तौर पर अकसर मुझे ये कविताएँ प्रकाशित करने के लिए उकसाते रहे हैं। प्रेस के लिए पाण्डुलिपि तैयार करते समय जब फिर एक बार मन में कुछ शंका हुई तो उन्होंने इन्हें प्रकाशित करने के लिए तो ज़ोर दिया ही, इनके चुनाव में भी मदद की। बेशक, यह उनकी सहज स्नेहशीलता और उदार अभिरुचि के कारण ही होता रहा है। मगर इससे उनके आश्वासन और उससे मिलनेवाले साहस का मूल्य कम नहीं हो जाता। अन्त में, सबसे अधिक आभार तो श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का है जिन्होंने इन्हें भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित करना स्वीकार किया।

नयी दिल्ली
२६ अक्तूबर, १९७२

नेमिचन्द्र जैन

# एकान्त

# धूल भरी दोपहरी

धूल भरी दोपहरी
धरती के कण-कण में गूँजी आकुल-सी स्वर-लहरी।

सरल पल आते-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर बेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी।

मधुर अनमनी उदासी
एक धूमिल रेखा-सी—
छायी है; बहता जाता है पवन अरुक संन्यासी
कौन देश की ठहरी ?
आकर यों चल दिये कहाँ ओ जग के चंचल प्रहरी ?
धूल भरी दोपहरी।

बरुआसागर
१९३७

# अकेला

उड़ चला अकेला,
तोड़ प्रीति-बन्ध विहग उड़ चला अकेला।
भूले सब स्नेह-गान,
छोड़ा तरु-तीर मोह,
उड़ा विकल खग अजान श्वेत पंख फैला।
आशा विश्वास धीर
भरकर मन में अकूल,
बिसरा पथ-प्यार-पीर,
उड़ता जाता अधीर कहीं इस अबेला।

आगरा
१९३७

## क्या भाया ?

क्या भाया ?
अनजाने मन क्यों इस कोलाहल में खिचकर बह आया ?
वे वन की सन्ध्याएँ निर्जन
मदिर-अरुण पीली
भोली-सी नीली
सूना निर्झर-तीर,
कहीं से मौलसिरी का परिमल उन्मन
लाया सिहराता समीर—
भर लाया।
नन्ही चिड़ियों का कलरव सुन
पूछ-पूछ उठता था तब मन
क्या गाया—
भोली चिड़ियों ने क्या गाया ?
ये उलझे आवरण यहाँ के
बन्धन की काया
झूठी जीवन की परिभाषा
रीते-से आडम्बर की ओछी-सी अभिलाषा—
इस कोलाहल के अंचल में आकर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्यों मन खिचकर बह आया ?

प्रयाग
१९३७

## अनजाने चुपचाप

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से
आती हुई जुन्हाई-सा ही
तेरी छबि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखरकर सिमिट चला है मेरे मन में।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात ज्वार से
किन सपनों के मदिर भार से
किन किरनों के परस-प्यार से
पल भर में यों आज अचानक।
यह किस रूप-परी विरहिन के उर की पीड़ा
मेरे जी में भी चुपके से तिर आयी है
यों अनजाने ?
गूँज उठा है अन्तर-जीवन
किस फेनिल अरुणाभ राग से ?
किन फूलों के मधु पराग से
पुलकित हो आया है
आकुल मधु-समीर ?
जी के इस कानन में भी फूली है सरसों,
इस वन का भी कोना-कोना
है भर उठा अकथ छलकन से,
प्राणों के कन-कन से
झरता मौलसिरी के फूलों-सा
अम्लान स्नेह।
तुम हो मुझसे दूर कहीं पर
यौवन के प्रभात में विकसित

डाली पर झुक-झुक
बल खाती
सहज सरल निज क्रीड़ा में रत
कुन्द कली-सी।
यह मधुमास सजीला चुप-चुप
तेरे उर के आँगन को
गीला कर-कर जाता होगा री,
परिमल के मिठास से भाराकुल
यह बासन्ती बयार
उलझ-उलझकर खोल-खोल देती होगी
वह तेरा कच-संभार सुरभिमय।
कुछ अनमनी उदासी से तुम
सहज भाव से
अपने विकच लोचनों के ऊपर से—
वे लोचन जिनमें प्रति पल में
छलक-छलक आती है बरबस
छनी हुई करुणार्द्र मधुरिमा
जिनमें होकर सुमुखि,
तुम्हारे सहज स्नेह का सब गीलापन
बिखर-बिखर आता है—
किस रजनीगन्धा के मद से सदा लबालब
भरे हुए उन चंचल नैनों के ऊपर से
हटा-हटा देती होंगी वे केश हठीले।
यह चांदनी निहार अचानक
उन अनार की अविकच कलियों-से होंठों से
तभी तुम्हारे मन का सब अनजाना प्यार लजीला
बह-बह आता होगा
स्वर-धारा में।
पवन-गुंजरण से भी कोमल, अति कोमल
वाणी का स्वर वह
गूँज-गूँज उठता होगा
अग-जग में।

मैं एकाकी,
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाक़ी।
बिना तुम्हारे
इस बसन्त रजनी की दूध भरी छाया में
चला जा रहा हूँ मैं पग-पग
बिना विचारे, बिना सहारे।
यह मदिरा-सी तरल जुन्हाई—
किसी रूपसी सुरबाला के तन की आभा-सी जो छायी—
भर जाती है मेरे मन में
तेरी छबि का सुधि-सम्मोहन,
और प्यार से
पिघल-पिघलकर
मेरा दुख हो आता पानी।

आगरा
१९३९

# आगे गहन अँधेरा है

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी
अब भी है टूटे प्राणों में किस छबि का आकर्षण बाक़ी
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड़ जाना
एक बार फिर से दो नैनों के नीलम नभ में उड़ जाना
मन में गूँज रहे हैं अब भी वे पिछले स्वर सम्मोहन के
अनजाने ही खींच रहे हैं धागे भूले-से बन्धन के
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझको तो है आगे जाना
जाना ही है—पहन लिया है मैंने मुसाफ़िरी का बाना
आज मार्ग में मेरे अटक न जाओ यों ओ सुधि की छलना
मैं निस्सीम डगर का राही मुझको सदा अकेले चलना
इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार बसा है मन का आलम
रुक न जाय सुधि के बाँधों से प्राणों की यमुना का संगम
खो न जाय द्रुत से द्रुततर बहते रहने की साध निरन्तर
मेरे-उसके बीच कहीं रुकने से बढ़ न जाय यह अन्तर।

बरुआसागर
१९४०

# कवि गाता है

कवि गाता है—
संक्रान्ति काल का कलाकार कवि गाता है।
देख चाँदनी रातें कवि का नाच उठा उर
स्वप्न-देश की परियों के गायन से
उसका गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों में
मदिरा-सा किस छबि का मीठा भार लिये,
वह बेसुध-सा है;
उसके नयनों में झूल रही किस रूपपरी की सघन याद
उसके मन में कितनी पीड़ा, उसके मन में कितना विषाद !
और तभी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलता के, प्यार-प्रीति के, अपने दुख के—
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने।
फूट उठा है उसका उर
वह गाता है,
संक्रान्ति काल का
पीड़ित मानवता के युग का कलाकार कवि—
गाता है।

कभी यहाँ आते हैं कोई बड़े राज्य के राजा साहब
कितने दानी !
कभी प्रान्त के आते हैं सरकारी अफ़सर,
या कोई जनता के लीडर

जो होते हैं सभी कला-कविता के प्रेमी—
कितने ज्ञानी !
उन सबके स्वागत में
जब-तब
किसी सेठ के घर होती ही रहती है
दावत-मेहमानी ।
कवि भी आमन्त्रित होता है,
वह भी आये;
राजा साहब, अफ़सर, या जनता के लीडर—
( या वह जो हों ! )—
के स्वागत में गीत बनाकर लाये, गाये,
और काव्य के चमत्कार से मेहमानों का दिल बहलाये ।
आमन्त्रण की गुरुता से ही
सहज गर्व से
फूल-फूल उठती है तब उस कवि की छाती—
गद्गद होकर गा उठता है कवि
तब राजा और सेठ की स्तुति के गायन ।
गाता है वह कलाकार
जब बाहर दुनिया में फैली घनघोर विषमता,
दिशि-दिशि से उठ रहा भयानक चीत्कार
उसको तो है बस अपने सपनों से ममता—
वह कलाकार ।
क्या परवा उसको,
एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी
वह दिव्य-दृष्टि से देख रहा उसकी तो युग-युग की वाणी
उसके स्वर में है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी ।

कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्त्व का ।
मानवता के अमर चिरन्तन नियमों का
कवि स्रष्टा है ।

वह क्यों गाये
इस वर्तमान के
अति कुत्सित बीभत्स अँधेरे के
जड़ता के,
काले-काले क्रुद्ध गीत
जब देख रहे उसके अधमूँदे नयन
क्षितिज के पार, दूर,
गरिमा के गौरव से मण्डित स्वर्णिम अतीत ।

वह गाता है—
षोडशवर्षीया सुकुमारी
बड़े-बड़े महलों में रहनेवाली सुन्दर राजकुमारी
की प्रशस्ति में—
( राजमहल वे
जिनकी गहरी नींवों पर बलिदान हो गये
भूखे नरकंकाल अस्थिपंजर जैसे लाखों मजूर,
जिनके गरम रक्त से सिंचित
राजमहल यों छाती ताने आज खड़े हैं। )
रूप और वैभव की मदिरा में विभोर
कवि गाता है
अतृप्त यौवन के, लिप्सा के
गीले-गीले गलित गीत ।
मृत्युशीत !

कवि गाता है
वह कलाकार है ।
व्याकुल मानवता की संस्कृति की रक्षा का
उसके ऊपर आज भार है
भूत-भविष्यत्-वर्तमान को
देख रहा वह आर-पार है ।

वह ईश्वर है
वह ज्ञाता है,
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,
जो केवल गाता है—!

आगरा
१९४०

## अब न तुम गाओ

अब न तुम गाओ सुमुखि, छबि के प्रणय के गान
आज जब चीत्कार से हैं त्रस्त जग के प्राण
छा गये जो विषमता के मेघ अम्बर में
दैन्य का तम-धूम जो भर गया घर-घर में
हो रहा जग से विभा का लोक अन्तर्धान
घुमड़ते हैं वे उधर बाहर बवण्डर-से
कल्पना के महल सब हो चले खँडहर-से
किन्तु अब भी कर रहीं तुम नयन-शर-सन्धान
वह उधर रुँध गये हैं सब कण्ठ जन-जन के
तुम इधर गातीं अभी तक गीत साजन के
पहनकर अपना बसन्ती स्वप्न-सा परिधान
अब न यों मन को हवा के साथ बहने दो
आज अपने रूप का आह्वान रहने दो
उठ रहा है हृदय में विक्षुब्ध-सा तूफ़ान
मत भरो सखि, आज अपने मोह का प्याला
आज जलनी चाहिए विद्रोह की ज्वाला
आज होने दो तनिक उत्सर्ग का सामान
चुक रहे हैं प्यार के अरमान अब सारे
दीखते हैं सामने सब ओर अंगारे
हम सिपाही हों हमें बलिदान का वरदान
कण्टकों का मार्ग पर अविराम चलना है
एक ही विश्वास से चुपचाप जलना है
करें हम तुम साथ आओ इस गरल का पान
आज जब चीत्कार से हैं त्रस्त जग के प्राण।

आगरा
१९४१

# ज़िन्दगी की राह

यह ज़िन्दगी की राह
है कब चुकी
चिर विफल मानव के अधूरे-से बने
उन स्वप्नलोकों की अरुक यह गीत-लहरी
कब रुकी
है कब चुकी
एक स्वर से एक लय से चल रही है
युगों से जिसके सहारे
त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो कब चुकी है कब रुकी—?

है निरन्तर ही प्रगति की
एक गति से दौड़ने की छिपी मन में चाह
मेघमाला से लदे
ऊँचे बरफ़ के अनुल्लंघ्य अगम्य पर्वत
कांपते तूफ़ान के विक्षोभ से चंचल
अछोर तरंग-संकुल
सर्वभक्षी महासागर—
पर्वतों को रौंद जाने
सागरों को लांघ जाने का प्रबल उत्साह
ऐसी चाह —
यह है ज़िन्दगी की राह।
यहाँ रुकने का न कुछ अवकाश
मौत से भी तेज़ गति से चल रहा जीवन जहाँ

तो भी न मंज़िल पास
है ऐसा विचित्र प्रवास।
इस निरन्तर भागने से हारकर
रुक भी गये तुम,
तो—
क्या यहाँ तुम इस डगर में
किसी से दो बात करके कहोगे
अपने हृदय का दर्द ?
प्राण की एकान्त यात्रा में कहीं पल भर अटककर
जो सुनहली गहन पीड़ा का मधुर संभार
लाये हो पथिक
आकुल किसी का प्यार
आतुर भीगते-से लोचनों से बरसता जो नेह का संसार
—उसे कह दोगे किसी से ?
और खोलोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणों में घुमड़ती आह ?
यह अचंचल पत्थरों की राह
दूर तक सूनी कँटीले पत्थरों की राह—
वे कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जो
दे सकेंगे
एक ही
बस व्यंग्य की तीखी हँसी का एक ही उपहार।
सुख-दुखों के कल्पना-कोमल खिलौने
वज्र-निर्मम पत्थरों पर पड़े
पल में टूट जायेंगे—
नहीं है इन्हें कुछ परवाह
ऐसा पत्थरों का प्यार
यह है पत्थरों की राह।
यहाँ रुकने का नहीं अवकाश
मंज़िल दूर हो या पास

हों उत्फुल्ल रस से सिक्त छलकन से भरे
ये प्राण
या हों चिर उदास निराश—
नहीं अवकाश।

ज़िन्दगी की राह के कुछ दूसरे ही हैं नियम
कुछ दूसरे ही ढंग।
सामने जिसके प्रखरतम
ज्योति का
नव-ज्वाल की भीषण प्रभा का
लाल पावन रंग—
तड़पता विद्रोह से अस्थिर सितारा।
आज पथदर्शक उसी को मान लो
तुम चले आओ उसी आभा के सहारे
व्यर्थ मत खोजो किसी छबि की
किसी मधु-आह्वान में खोये हुए कवि की
रँगीली कल्पना के परीलोकों के किनारे।
सब भटकना छोड़ पन्थी,
आज आओ साधना की राह।
जीवन एक ऐसी राह
जो है सर्वहारा
मुक्ति के उद्दाम नव-उन्माद से बेचैन
आकुल एक धारा
एक सतत प्रवाह
ऐसी ज़िन्दगी की राह।
जीवन एक लम्बी राह।

आगरा
१९४१

# छलना

यों प्रीत निभाने की निर्मम, यह भी कैसी है रीत नयी
चुपचाप प्रतीक्षा ही में जो जीवन की बेला बीत गयी
चुक गया नयन का सपना किस चंचल छलना के जादू से
कन-कन करके ही आशा के फूलों की अंजलि रीत गयी।

थी छलक गयी मन की मदिरा पल में होते ही दृष्टि-परस
आशा के सतरंगे सावन जब पल भर जी में पड़े बरस
जब जीवन के सूखे मरु में झर पड़े अचानक बकुल फूल
भर गया नयन की राह अचानक मन में सम्मोहन का रस।

अधखुले हृदय में अनजाने उस पल बिखरा छबि का दुलार
बस गया प्राण में युग-युग को शरमीली आँखों का खुमार
मंजरित हो गयी सौरभ-श्लथ मेरे अन्तर की अमराई
हो गया व्याप्त परिमल मानो अग-जग में, मन के आर-पार।

उस पल भर की मस्ती में मेरा मोहाकुल मन गया भूल
जी डूब गया बेबस होकर उस छबि की सरिता में अकूल
प्राणों के बन्धन उस क्षण तो थे टूट गये बरबस नितान्त
पापी उर में उस बेला तो रजनीगन्धा ही उठी फूल।

पर आज अकेले ही होगा इस भीषण ज्वाला में जलना
एकाकी ही सूना जी ले लम्बे पथ पर होगा चलना
धीरे-धीरे इन प्राणों की बढ़ती ही जाती है दूरी
मैं बेबस आज पराजित हूँ तुम जीत गयीं मेरी छलना।

शुजालपुर
१९४१

## अपने अन्तर का खालीपन

अपने अन्तर का खालीपन तेरे सुधि-सौरभ से भर लूँ
एकाकी मन पर तेरी छबि धीमे-धीमे अंकित कर लूँ
एक सहज ममता की छाया में मैं अपने प्राण बिछा दूँ
तेरे ही आकर्षण में अपना उद्धत अभिमान सुला दूँ।

यह एकान्त अभेद अँधेरे-सा मन पर घिरता आता है
जी का सब विश्वास अचानक ही मानो गिरता जाता है
घोर विवशता के मरु में ये भटक पड़े हैं प्राण अकेले
आज नहीं कोई जो मेरे मन की यह दुर्बलता झेले।

शान्त हो गयी है चुप होकर मन की जो आहत पुकार थी
मन्द हो गयी बुझती जी की ज्वाला वह जो दुर्निवार थी
एक रिक्त बस—प्राणों के इस तरु पर आ छाया है हिम-सा
सुधि का दीप दूर एकाकी होता जाता है मद्धिम-सा।

मेरे अन्तर का रहस्य मुझको ही आकर कौन बताये
कौन बिखरते-से प्राणों में जीवन का जादू भर जाये
मेरे पथदर्शक, खोलूँ कैसे ये उलझी गाँठें मन की
बोलो, कैसे जोड़ूँ बिखरी कड़ियाँ इस खुलते बन्धन की।

शुजालपुर
१९४१

## उन्मुक्त

हो गया आज उन्मुक्त विहग पल में अबन्ध
छुट गये वासना के नाते सब मोह-अन्ध
खुल गये पलक में ममता के सब नागपाश
कारा-तम के वासो ने देखा उषा-हास
उड़ चला गगन में अपने आतुर पंख खोल
भर गयी मुक्ति मन में कुछ वह मस्ती अमोल
उद्दाम वेग से उड़ा चला मानो अशान्त—
हो नभ की सीमा ही छू लेने को नितान्त
उड़ जायेगा मानो अग-जग के आर-पार
उसके अन्तर में आया है वह रक्त-ज्वार
है आज न उसके प्राणों को कोई विराम
वह छोड़ चला रुकने के सारे सरंजाम
उसके आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध
चिर दिन से बन्दी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह
उसके आगे तब ठहर सका है कौन कूल—
जब हो पड़ती है प्राणों की गंगा अकूल ?
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनन्त
युग-युग की जड़ता का कर देगा आज अन्त
वैषम्य शृंखलाएँ होंगी सब चूर-चूर
उग रहीं स्वर्ण-रेखाएँ समता की सुदूर
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दम्भ
होगा उस पल में ही नवयुग का समारम्भ ।

धीरे-धीरे कलियों के खुलने के समान
उस गहन वेदना का रहस्य वह गया जान
है कांप रहा जिससे संसृति का वक्ष-देश
है कण्ठ रुँधा-सा पलकें अविचल निर्निमेष
उस चिर असीम के आगे निज सीमित कुरूप
अपने मन का पहचान गया है वह स्वरूप
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार
कितना दुर्बल है बौना अपना अहंकार
पर आज धुल गया है सारा वह छद्म वेश
पहचान गया है वह अपनी लघुता अशेष
वे घोर अपावन छलना के पल गये बीत
वह आज विसर्जित है प्रभु-चरणों में पुनीत
ममता के बन्धन बन्धन की ममता समस्त
अब टूट चुकी उसका पथ फैला है प्रशस्त ।

शुजालपुर
१९४२

# डूबती सन्ध्या

डूबती निस्तब्धा सन्ध्या
ग्रीष्म की तपती दुपहरी प्रबल झंझावात के पश्चात्
शान्त उदास है
सुनसान है।

विरल सरि का चिर अनावृत गात—
जो किसी के नयन के अभिराम जादू के परस से
हो उठा है लाल
ऐसा गात—
किस अनागत की प्रतीक्षा में खुला है ?
दो किनारे व्यथित व्याकुल
बाहु-बन्धन में किसी को बांधने को
नित्य आकुल
व्यर्थ ही तो है
युगों से इस अनावृत मुग्ध यौवन का
उपेक्षित देह का आह्वान
छबि का गान।
वक्ष पर फैली सुनहली अलस मन अभिराम सिकता
तन बिछाये
चिर समर्पित जो छिपाये
युगों से चुपचाप—रिक्ता।
अस्त होते अरुण रवि का स्नेह-वैभव
इस चरम अवसान के पल में
बिखेरा चाहता है

विश्व पर
अपनी प्रभा का दान
इसी से प्रत्येक पल
मानो किसी अतिरेक का हो घनीभूत स्वरूप
पलक में बुझ जायगा ऐसे प्रकम्पित दीप के
स्नेहिल हृदय का रूप।
थकी किरणों का जगत् को प्रीति का उपहार—
मन की कालिमा को
प्यार से धो डालने का चिरन्तन व्यापार
जो कि पल भर में अभी हो जायगा निःशेष
हो उठा है इसी से
अपनी क्षणिकता में मधुर छबिमान।

दूर जीवन के थपेड़ों से परे
सूने गगन में आँख फाड़े
कल्पना-प्रिय युवक कवि-सी सहज निष्प्रभ
खड़ी हैं वैभवविहीन पहाड़ियाँ
इस विभा के मधुर पल में भी नहीं है
इन अकेले शैलखण्डों के हृदय में स्नेह-कम्पन
प्राण का संचार
वे खड़े हैं अचल चिर-अविकार।
वह विचित्र कुरूपता उनकी
विभा के पार्श्व में
है हो उठी कुछ और भी बीभत्स,
खूब तनकर यों अकेले खड़े रहने का
असंगत दर्प
उच्चता का गर्व
अपनी पूर्णता का भान
ओछा अकिंचन अभिमान
लगता है निरर्थक।

इस ऊँचाई का नहीं है
भूमि के रसमय प्रणय में योग
इसलिए
हलकी प्रलम्बित मौन छायाएँ गिराता
छिप गया सूरज कहीं पर दूर
और थककर चूर
दिन सोने लगा है सांझ की गहरी उदासी में।

शुजालपुर
१९४२

## तीन बजे शाम

तीन बजे शाम,
बाहर की धूल भरी हवा
उस कमरे के द्वारों पर पड़े
हलके नीले-से परदों को उड़ा-उड़ा देती है;
हिलते उन परदों के किनारे से झांककर
थोड़ा-सा प्रकाश
उस धूमिल-से कमरे में क्षण भर को घुसता है
और फिर तत्क्षण ही लौटता है
बाहर की चिलचिलाती धूप के साथ मिल जाने को।

कमरे में अन्दर
उस किंचित् प्रकाश में
प्रेमी ने देखा उदास मुख प्रेयसि का
और उसे अपने सुदृढ़ बाहु-बन्धन में
बाँध लिया,
कहा फिर कम्पित-से स्वर में :
'तुम तो आज जाओगी,
पर मेरा मुग्ध मन
क्या जाने किस व्यथा से भारी है,
टूटता है दिल—
कैसे इस असह वियोग को,
बोलो
मैं सहन कर पाऊँगा ?'
और इन शब्दों के साथ-साथ
चुम्बन एक

लालसा से मानो भरपूर
अंकित कर दिया
निज प्रेयसि के अधरों पर
किन्तु तभी मन में
वह चिन्तित-सा सोचता था :
शाम को अपनी इस प्रेयसि के साथ-साथ
स्टेशन पर जाने से
व्यर्थ नष्ट होगा
मिस लीला के साथ—
कम से कम मिलने का—
इतने दिनों बाद आज प्राप्त हुआ
इच्छित एकान्त स्वर्ण-अवसर।

प्रेयसि ने उधर
डबडबायी-सी आँखों से
प्रेमी की बात सुन
उसकी ओर देखा,
और फिर अपनी वे वल्लरी-सी बाँहें
तनिक कस दीं
उसके गले में और ज़ोर से—
जैसे अब छूटना तो बिलकुल असम्भव हो।
किन्तु अन्तर में तभी उसके
अनजाने ही
भावी नवीनता की
स्वप्नमयी आशा से
एक उत्साह था,
प्रफुल्लता भरी-सी चली आती थी,
जैसी किसी कड़वी उकताहट से
छूटने का
मिल गया हो आज उसे
एकाएक अवसर।
तो भी वह ऊपर से

मानो झल्लायी-सी पड़ती थी
कि क्यों नहीं उसे कोई
जाने का,
प्रियतम से बिछुड़ने का,
दुख है;
क्यों उस की आँखें डबडबाकर रह जाती हैं;
क्यों नहीं बह पड़ती
इस पल तो
अविरल-सी अश्रु धार।
और कहा उसने तब प्रेमी से
यथाशक्ति स्वर में
कुछ गहरी-सी करुणा उँडेल :
'मिलन की तीव्र उत्कटता का मूल्य
सदा
बिछुड़न की बेळा के क्षणों में ही
होता है अनुभव।'
सुनकर यह बात
फिर एक बार प्रेमी ने कस लिया
दृढ़ता से उसे
निज बन्धन में,
चूम लिये
उसके वे पतले-से होंठ—।

बाहर से परदों के किनारों की आड़ से
थोड़ा-सा प्रकाश
कुछ झांककर देखता था,
और यह देख
कुछ हँसता, कुछ लज्जित हो
तत्क्षण ही
वापस लौट जाता था...।

शुजालपुर
१९४२

## चलो, आगे चलें

चलो, आगे चलें।
इसलिए नहीं कि जीवन का नियम ही चलना है
इसलिए नहीं, मन में गति का है मोह,
इसलिए नहीं कि इस क्षण की संवेदना से
भागने की लालसा है,
या कि है जीवन विषाक्त, असहनीय
किसी तीव्रतम निराशा से;
या कि उकताहट है तुमसे,
जगत से, सभी से।
है नहीं आशा
इस मार्ग के छोर पर किसी से मिलने की,
प्राणों को किसी छविलोक में रमने की;
नहीं दीखता है मुझे
मदिराकुल मीठे-से सपनों का इन्द्रजाल
दूर पर,
कहीं इस राह के मोड़ पर—
है नहीं कोई भी आन्तरिक ऐसा आकर्षण
कोई ऐसा आदर्श,
तीव्रतम उत्कट-सी प्रेरणा।
इसलिए नहीं
तनिक भी नहीं।

किन्तु
तो भी कहता हूँ
चलो, आगे चलें।

क्योंकि तुममें है मेरे अस्तित्व का विरोध,
पाकर तुम्हारा सम्पर्क,
इस जीवन का नियम,
संघर्ष का,
सक्रिय हो उठता है।
तब एक तीखे-से द्वन्द्व की होती है सृष्टि
और यन्त्र चल उठता है—।
है नहीं कोई उद्देश्य इस गति का,
केवल एक परिणाम,
निश्चित-सी अन्तिम निष्पत्ति है :
मैं और तुम
तुम और मैं इस द्वन्द्व में होंगे समाप्त
उसमें चुक जायेगा हमारा समूचा व्यक्तित्व
प्राणों का सौरभ सब उसमें घुल जायेगा,
क्योंकि हो जायेगा
तुम्हारे विरोध का प्रभाव नष्ट।
और तब उसमें से होगा निर्माण
एक नूतन अस्तित्व का
सर्जन एक नूतन-सी शक्ति का,
प्राणों का।
जो स्वयं
किसी एक दूसरे विरोध के सहारे
फिर होगा गतिशील,
उन्मुख अदम्य नयी गति से।

इसीलिए कहता हूँ, आओ
साथ आओ,
आगे चलें।

बरुआसागर
१९४२

## व्यर्थ !

मार्गदर्शक, बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली
अनवरत देखने के यत्न से
इस गहनता को चीरकर अपना विलम्बित लक्ष्य,
जो कि मानो व्यंग्य से,
उपहास से
निर्मम सरकता जा रहा है
दूर,
दूरतर,
अनुल्लंघ्य अभेद तम में से
अचानक काँपती आती
डरी, धीमी
किसी आवाज़-सा हो
दूरतम...

किन्तु मैं हारा नहीं हूँ,
फड़फड़ाती हैं अभी बाँहें
कि अपने मार्ग के अवरोध सारे
तोड़ दूँ,
फेफड़ों में रक्त बहता है अभी इतना
कि कस लूँ
उस बिखरती अथिर छलनामयी को
आश्लेष में—
जो तोड़ दे व्यवधान
कर दे एक, एकमएक

दो इन दूर पर चलते सितारों को।

किन्तु पथदर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ भयंकर मौन से
बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे नपुंसक गर्व ने
मन की अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—।
ज्यों सुलगते तप्त अंगारे
अभी कजला गये हों,
दब गये हों बुझी ठण्ढी राख से।
जल रहे हैं,
मात्र छूने से लगा दें
प्रज्वलित कर दें
अकल्पित ज्वालमालाएँ—
ऐसा दाह भी है;
है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की,
सब तरफ़ फैले
विविध, नव-प्राणमय
गतिशील तत्त्वों से
किसी सम्बन्ध की,
कुछ स्वतःस्फूर्त सजीव विनिमय की—।

इसी से
ओ मार्गदर्शक,
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सा।

बरुआसागर—कलकत्ता मार्ग
१९४२

# इस क्षण में

आज उचटा-सा हृदय,
सायरन बज जाय
उसके बाद
निर्जन शून्य सड़कों-सा
निभृत, निस्संग, खाली,
व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी बस ढँक गया-सा
शून्य जी का प्रान्त ।
हो गया है आज
इस क्षण में
न जाने किस लिए उत्साह निर्वासित,
भयानक शीत के
हिम के
अचानक खुल गये हैं द्वार
कब-कब के रुके,
जो पड़ गया
फीका, विरस, निस्सार सब कुछ—
मरण, जीवन, अरुक हृत्कम्पन ।
असम्बद्ध अनेक तागे-से
हृदय से निकलकर होते चले हैं,
निष्प्रयोजन ही,
किसी सुनसान-से में लीन,
और केन्द्र-विहीन
मन
कुछ चकित है

कुछ थका-सा भी है
न पाकर इस विरसता की कहीं भी थाह,
इस अलक्षित अनमनी झंकार का
अब कौन-सा है हेतु
आखिर कौन-सी है राह ?

एक बस तुम ही
उदासी की अमा में किरण-रेखा-सी
कहीं से
दूर ही से घोल देती हो
विभा के रंग,
ग्लानि की इस घटाटोप अभेद बदली में
तुम्हारी याद ही बस
कांप उठती है चमक-सी।
हड्डियों को कँपकँपाती भेदती
इस शीत वेला में
तुम्हारी याद,
प्रिय,
पत्तियों पर बस गयी हिम की सतह-सी
सरल, पावन और चिर-अविकार;
जिस अकल्पित दिव्यता की सुरभि से
सौन्दर्य से
मन का सभी व्यापार ही थम जाय
पलक भी हो जायें स्थिर, निस्पन्द—
उस परम आनन्द-सी,
निष्कलुष सौन्दर्य के आगे उमड़ती
विवशता-सी
पूर्ण, व्यापक, मधुर...

इस तुम्हारे सुधि-परस से
ग्लानि, कड़वाहट हृदय की

हो चली सब दूर,
खुल रहे हों बन्द वातायन
कि जैसे प्राण के इस कक्ष के।
आज ही प्रिय,
इसलिए,
बस आज पहली बार ही,
मैं पा गया हूँ तुम्हें पूरम्पूर,
चीन्ह पाया हूँ कि
इतनी दूर से,
इस अगम व्यवधान को भी चीर कर
आकुल तुम्हारे स्नेह के आलोक का
संस्पर्श
मेरे अनमने सन्तप्त प्राणों को
सदा भरता रहेगा
शारदीया चाँदनी के गीत के बेहोश स्वर-आरोह से
चैत की अम्लान पूनो की विभा से
रातरानी के नशे से,
सुरभि से।

दिल्ली १९४२

# शारदीया

शरद राका,
चाँदनी ने मधुर सौरभ से लदी
भारावनत
यह निशि
लता-सी मूर्च्छित, विजड़ित....
युगों के संस्कार कहते हैं
कि यह सौन्दर्य ही बस
सत्य है,
और मन भी
इस विभा के गीत में
सस्मित स्वरों के नशे में
बस डूब जाना चाहता है।

किन्तु—
किन्तु कलकत्ते शहर की
टार की इन स्वच्छ सड़कों पर,
दर्प से छाती फुलाये मंज़िलों-ऊँचे घरों पर
दफ़्तरों की महाकाय इमारतों पर
चाँदनी की यह रहस-सुषमा
अचानक लग उठी है
एक तीखे व्यंग्य-सी कड़वी, विषाक्त।
ब्लैक-आउट में छिपी इस शहर की बीभत्सता
इस चाँदनी में
हो उठी है और भी बीभत्स,
सभ्यता के आवरण से ढँके तन की ग्लानि

सारा कोढ़
फूट उठता है अचानक।
आप चाहें या न चाहें
दीख पड़ते हैं पड़े फ़ुटपाथ पर
मैदान में
सब ओर
चारों ओर सोये, लुढ़कते, गुड़मुड़ हुए
ढांचे
निरे बस हड्डियों के।
पास ही से देखकर यह जान पायेंगे
कि ये भी आदमी थे
इन धड़कते पंजरों में भी कभी था
प्राण का
रस-भरे उद्दाम जीवन का सहज संचार,
था इन्हीं के सुदृढ़ कन्धों पर
शरद की चाँदनी में डूबनेवाले
जगत को पालने का भार—
सभ्यता का दम्भ इनके ही सहारे था।
आज वे
इस रजत राका में
दिखाई पड़ रहे हैं अस्थियों के ढेर-से
निर्जीव, स्पन्दनहीन
कटे पेड़ों-से निराश्रित
व्यर्थ।
आज छायाएँ पिशाची घिर रही हैं
अर्धनग्ना नारियों की,
चल रहा है धान के दो-चार दानों के लिए
अब अस्मतों का खेल
भूख से व्याकुल तड़पते बालकों का
दीन कें-कें स्वर
बिना खाये
या कि खाकर रोग से,

मरते हुए नर-नारियों की रुद्ध-सी चीत्कार—
सभ्यता के शाप-सी ही गूँज जाती है...

स्वार्थ के आगे बिखरकर ढह गयी है
ज़िन्दगी की
सम्मिलित कर्तव्य की बुनियाद,
आज सामाजिक विषमताएँ
उभरकर नग्न हैं,
विकराल मुख फाड़े खड़ी हैं
लीलने को इस अभागे देश को।
फूट से जर्जर अभागी जाति को।
बुद्धि बन्दी है,
युगों से हो गया है हृदय संज्ञाहीन
और कर्मविहीन
तन
बस देखता है दीन-सा, असहाय-सा...
आज भी,
इस चरम संकट के समय भी,
नहीं जागी परस्पर सहयोग की भी वृत्ति,
सोचता है व्यक्ति अपनी
मात्र अपने स्वार्थ की ही बात।
और यह सब ओर से भारी क़दम रखता हुआ
सबको निगलने
नष्ट कर देने
झपटता आ रहा है
विकट तम का, दासता का, मरण का
दुर्जेय-सा तूफ़ान।

उधर बढ़ती चाँदनी के साथ
मन में बढ़ रहा है
एक भय,

कुछ दानवी आतंक;
डरे पशु-सी
हो गयी हैं इन्द्रियाँ सन्त्रस्त उत्तेजित अचानक
आसमानी मौत के बस ध्यान से।
कौन जाने किस मिनट
नभ से बरसने लगेंगे
कुछ रक्तलोभी डाकुओं की कीर्ति के गोले।
सायरन की तीव्र रुक-रुककर निकलती चीख—
दानवों के आगमन से
निस्सहाया बालिका के कण्ठ की
कातर करुण चीत्कार-सी—
और फिर निर्दोष जन-जन पर बरसते बम....

आज बिलकुल व्यर्थ है
ओ यामिनी
तेरे सुरूप सुहाग का शृंगार
है निस्सार!

कलकत्ता
१९४३

## [1]छब्बीस जनवरी

मुक्ति का दिन,
मुक्तिपथ की साधना का,
सजग भारतवर्ष की इस कोटि-कोटि अदम्य जनता के
सहज उत्साह का
निज भाग्य-निर्णय के लिए उत्सर्ग का त्योहार;
मुक्तिपथगामी शहीदों के स्मरण का पर्व
देश की सब जातियों की
एकता के सूत्र का प्रज्वलित स्मारक
यह हमारा गर्व।

उड़ रहा झण्डा तिरंगा वायु में
भर एक आश्वासन,
छिपा है प्रत्येक कम्पन में कि जिसके
देश के संघर्ष का,
पददलित इन जातियों की कामना, विश्वास का
गौरव भरा इतिहास।
हो रहा है व्याप्त नभ में
इस पताका से प्रकम्पित
निकलकर
एक स्वर
निष्कम्प, दृढ़ करता हुआ यह घोषणा
हम हैं सदा अविजेय
आततायी के दमन निर्मम

१. आज़ादी की लड़ाई के फ़ासिस्ट-विरोधी दौर में जनवरी १९४४ में लिखी गयी।

घृणित विध्वंस
नर-संहार की ही है सदा से हार
है सौ बार,
हैं क़दम मज़बूत
अब भी बढ़ रहा है गरजता
जय-विजय पथ पर उमड़ता
इस देश के लाखों मजूरों का
करोड़ों ही किसानों का अतुल विक्षुब्ध पारावार
अब नहीं है लौटती खाली
हमारी मुक्ति की हुंकार।
आज प्रतिध्वनि में
उधर से गूँज उठता है
गरजकर बढ़ रही विद्युत्त्वरा से
दस्युदल-बल को कुचलती
लाल सेना का विजय का वज्र जयजयकार,
वह उधर से आ रहा है
चीन की,
पोलैण्ड, यूगोस्लाविया की
दलित जनता की विजय का स्वर
कठिन दुर्दम्य
नभ को चीरता इस पार
अब इस बार...

आततायी आज विचलित हैं
उखड़ते जा रहे हैं पैर
उनके,
विश्व की सम्मिलित् जनता के
कठोर प्रहार से
भयभीत हैं
हैं त्रस्त,
जागरण का यह नवोत्थित रुद्र भैरवनाद सुन के।

जागरण के इस कठिन संग्राम में
हम भी
सभी के साथ
आगे बढ़ चलेंगे
करेंगे निर्माण एक स्वतन्त्र दुनिया
मुक्त भारतवर्ष
इसलिए हैं हुए प्रतिश्रुत आज हम दुर्धर्ष।

हम बुनेंगे आज से
सब जातियों की एकता के सूत्र
तोड़कर अपने कवच एकान्तता के
सम्मिलित हो,
स्वार्थ से,
निष्क्रिय परामुख दासता की वृत्ति से,
निश्चिन्तता से,
हम करेंगे युद्ध
होकर क्रुद्ध।

आज फूटे
आत्मविश्वासी करोड़ों कण्ठ से
ये ही तुमुल ध्वनि
यही ध्वनि हर बार
हम कटिबद्ध हैं तैयार
देंगे अर्घ्य अपने शीश
मुक्ति का त्योहार है यह जनवरी छब्बीस।

बाँकुड़ा
१९४४

## अविवेक

फिर वही इतने युगों के बाद
एक सम्मोहनमयी-सी याद
जग उठी है किस लिए अभिराम
वासना के ज्वार-सी उद्दाम
आज प्राणों के जलधि के तीर
चंचला लहरें घिरीं गम्भीर
एक आकुल तीव्र अन्तर्दाह
कौन-सी ऐसी अजानी चाह
वेग से अविराम बारम्बार
धमनियों में रक्त का संचार
घुट उठा दम श्वास का अवरोध
हो रहा कम चेतना का बोध

रातरानी की नशीली गन्ध
प्राण चंचल हो रहे मधु-अन्ध
किस सुधा की प्यास छबि का प्यार
आज फिर जी में हुआ साकार
किस लिए इतने युगों के बाद
मोह की भर सुरभि-आकुल याद
बज उठा है फिर वही संगीत
आज क्यों ओ सजल मन के मीत
एक दिन जब तोड़ रेशम जाल
खोलकर उद्भ्रान्त मन के पाल
चल पड़ा था लालसा को भूल
प्यार के आह्वान के प्रतिकूल

उसी पल में मैं गया था जान
सब तुम्हारे स्नेह का वरदान
मिली थी जो शक्ति एक अदम्य
जलधि की विक्षुब्धता-सी रम्य
गहन के विस्तार-सी बेमाप
भर गयी थी हृदय में चुपचाप

एक वह क्षण और यह क्षण एक
जग उठा विक्षिप्त-सा अविवेक...

बाँकुड़ा
१९४४

## प्राणों की आलोक-किरण

तुम बुझो न मेरे प्राणों की आलोक-किरण
तुम रुको न इस क्षण मेरे अन्तर की धड़कन
विश्वास गिरा जाता है गिरता जाता है
पर थम न जायँ बढ़ते-बढ़ते ये बिद्ध चरण।

ढह रहीं युगों की दीवारें मन में मेरे
विध्वस्त खँडहरों की छाया फिरती घेरे
बेसुरे पराजय की प्रतिध्वनि से सारे स्वर
हैं काट रहे आधारहीन अन्धे फेरे।

शंका की नागिन बैठी है कुण्डली मार
फुफकार रही है अपना विषधर फन पसार
बन्दिनी इड़ा है देख रही सन्त्रस्त विवश
उठती है किस आदम की तीखी-सी गुहार।

यह द्रोह असह होता जाता है पल-पल का
रह गया दिशा का ज्ञान शेष हलका-हलका
ढलका है मन पर अँधियारा सागर अथाह
अब तुम न मुझे छोड़ो ओ प्राणों की अलका।

हैं चरण बिंधे पर गति तो अब भी है बाक़ी
विश्वास डिगा पर बची चेतना ममता की
मैं बढ़ा चलूँगा बस आश्वास तुम्हारा हो
छबि से भरकर अपना यह अन्तर एकाकी।

बरुआसागर
१९४५

# चैत की साँझ

चैत की यह सांझ फीके पड़ रहे हैं रंग
है तुम्हारी याद घिर आयी तिमिर के संग
ज्यों तड़पते स्वर असंयत लालसा से चूर
बुझ रहे हों, मन्द होते जा रहे हों दूर
ढल गया है वह उफनती कामना का ज्वार
सो गया है आज जैसे वह मचलता प्यार
अब नहीं घिरता तिमिर के साथ वह उन्माद
अब नहीं विक्षिप्त कर देती तुम्हारी याद
पंचमी के चाँद का मीठा अलस आलोक
बुन रही किरनें तिमिर का मुग्ध छाया-लोक
किन्तु सागर मौन लहरें हो गयी हैं शान्त
थम गया है गीत हाहाकार का उद्भ्रान्त
इसलिए शंका कहीं से जागती अनजान
चुक गया क्या सब तुम्हारे स्नेह का वरदान
मिट गये मन के गहन से सब तुम्हारे अंक
हो गये हैं प्राण क्या रसहीन ऐसे रंक
पर नहीं यह धारणा है व्यर्थ-सी निस्सार
आज भी जी में सुरक्षित है तुम्हारा प्यार
धुल गया है वासना का वह क्षणिक आवेश
तीव्र अन्तर्दाह का अब है नहीं कुछ लेश
लालसा के उन तड़पते स्वरों की झंकार

प्राण के संगीत में मिल खो गयी अविकार
बन गयी है वह हृदय की धड़कनों की मीड़
है सहज मुखरित उसी से मुग्ध मन का नीड़।

आज प्रिय, हो आज भी तुम धड़कनों के पास
हो तुम्हीं मेरे सुदृढ़ हर चरण का विश्वास।

बरुआसागर
१९४५

## वज्र यह कैसा

वज्र यह कैसा
अचानक चीर प्राणों के गगन को भर गया
प्रज्वलित तीखी तड़प से।
तीक्ष्ण जलती प्रभा का
दुर्दम्य कोई तीर-सा छूटा कहीं से
चंचला शत-शत पलक भर कौंध
काँपीं,
और फिर बस छा गया
दुर्भेद्य सीमाहीन तम-विस्तार
थोथे रिक्त मन पर—
खुल गये मन के पटल कितने
न जाने कौन-से स्तर।

कौन यह जागा भयंकर दस्यु निर्मम
वासना का प्रखर तीखा तीर लेकर
लूटने
मन का सुरक्षित कोष अक्षय
प्राण की निधि;
भ्रष्ट करने, लांछिता करने
हृदय की मौन पावनता
अबोधा बालिका-सी सरल यौवन की,
समर्पित प्रियतमा के
छबि-विसुध निश्शंक चिर विश्वास-सी
सम्पूर्ण, सुन्दर, भव्य...?
उर्वशी यह कौन जागी?

लिये कर में हलाहल
निर्दोष नीलम-सा भयंकर और सुन्दर;
नयन में लिप्सा अकुण्ठित
असह तृष्णा की चमक,
अनिवार आकर्षण
सलोना, गरलमय...?
कौन आकर मथ गया सागर अभागा ?
कौन जागा ?

ज़िन्दगी के पोत को क्यों खींचते हैं
सैकड़ों चुम्बक
अतल की ओर
नीचे,
गहनतर, घनघोर तम में...?
काटती चक्कर जहाँ
बीभत्स छाया-मूर्तियाँ कुत्सित,
तिमिर में लिपटी हुई
अस्पष्ट-सी, धुँधली
अधूरे स्वप्न-सी अधखुली,
विस्मृत, पूर्व-परिचित...।
द्रोह का हँसता शिखण्डी
नग्न प्रतिहिंसा-बुझे ले तीर कर में
भीरु, कायर;
है कहाँ विद्रोह का गाण्डीव
ओ अर्जुन,
तुम्हारी क्रुद्ध प्रत्यंचा अचानक शान्त क्यों है—?

मैं अतल की ओर
खिंचता जा रहा हूँ,
मोह से पग-पग फिसलता,
डूबता, गिरता,

फिसलता, डूबता;
सुन रहा हूँ स्तब्ध मैं भयभीत कातर
तिमिर में लिपटी हुई
बीभत्स छायामूर्तियों का अट्टहास
कुरूप, कुत्सित—
वज्र कोई भर गया मानो
अचानक चीर प्राणों के गगन को
प्रज्वलित तीखी तड़प से।

डूबकर मैं घिर गया हूँ विवश;
चारों ओर है
गम्भीर सागर के हृदय का अन्धकार अपार,
हैं खड़ी मानो अनेकों अगम अन्धी वज्र-सी दीवार
घुस रहा है तिमिर का पानी विषैला क्षार,
इन्द्रियाँ सन्त्रस्त
पल-पल हो रहीं निस्पन्द जड़...।

एक ही बस
क्षीण दुर्बल चेतना आधार-सी बाक़ी बची है,
एक ही—
इस अगम दीवार के ऊपर सतह पर
शान्ति है
फैला हुआ है मुक्त चारों ओर
सीमाहीन नीलाकाश
जिसमें फूटती है मुक्ति की अम्लान निर्मल धूप
तोड़कर कारा तिमिर की;
है जहाँ जीवन-उषा का मुक्त उज्ज्वल हास,
है जहाँ विकसित, सहज उत्फुल्ल
सौरभ-मुग्ध पाटल-सा
लजीली, स्नेह रंजित प्राण-वधुका का सलोना रूप।

बरुआसागर
१९४५

# दशमी का चाँद

देखता हूँ दशमी का पीला-सा चांद
थायसिस की रोगिणी के सुन्दर थके मुख-सा
निस्तेज—
और प्राणों के झुरमुट में
होता है खेल
आलोक का तिमिर का।
विस्मृति का फैला है परदा सफ़ेद
जिस पर उभरता है चित्र
अस्पष्ट
एक लैण्डस्केप बेमानी
रेल की खिड़की के आगे से
भागते खम्भों-सा अस्थिर...।

दूर पार्श्वभूमि में वे
डबडबायी आँखों-सी तैरती
पहाड़ियों की छायाएँ धुँधली,
पल भर में पास आ चुभती हैं
मानो प्रदीप्त वासना के शिखर हों उन्नत उत्तुंग
किसी तरुणी कुमारी के कसे हुए
अक्षत उरोजों-से तने हुए उद्धत।
फैला है आगे मैदान
दूर-दूर चली आती हैं
तागों-सी उलझी अनगिनती पगडण्डियाँ
जहाँ-तहाँ बिखरे हैं उजड़े-से पेड़

बदसूरत और भोंड़े,
एक-दो धब्बे हरियाली के झांकते हैं
डरते शरमाते-से
जीवन के मरु में।

लगती है हर चीज़
सूखी-सी
फूटे हुए ब्लैडर-सी पिचकी निस्सार
निष्प्रयोजन
फाड़ती है मुख एक भीषण जुगुप्सा
कहीं भीतर
किसी गहरे अथाह में....।

देखता हूँ दशमी का पीला-सा चाँद
कहीं भागता
दीखता नहीं है मुझे
उसमें किसी का मुख खिलता उत्फुल्ल
किसी मुग्ध भावना की मधु-आभा से दीप्त
लगता है यक्ष्मा से पीड़ित
निस्तेज मुख कोई
मुझे घूरता है अपलक निस्पन्द...।

बरुआसागर–आगरा मार्ग
१९४५

# पत्र

पाया पत्र तुम्हारा,
आज न जाने कितने दिन के बाद
अचानक गूँज उठी है
आश्वासन की प्रतिध्वनि से प्राणों की कारा।
अपने ही अन्तर की प्राचीरों का बन्दी
घुटते-घुटते
और पा गया
आशा की आलोक-किरण का एक सहारा।

ओ सहयोगी
मेरे अन्तर की कटुता के
जीवन के विष-से तीखे कड़वे अनुभव के
तीव्र यन्त्रणा को घुट-घुटकर कर सहनेवाले
अन्तराल की मूक व्यथा के...
आज हमारे अन्तर की भाषा में होगी
व्यापकता दोनों जीवन की
दोनों मन की
एक अजाने मंगल क्षण के सन्धिकाल में
हुआ अलक्षित संगम
मुड़कर एक हो गयीं
मौन अकेले चलते-चलते ये दोनों जीवन की धारा
बन्धु, आज जब पाया मैंने पत्र तुम्हारा।

जीवन तो जीना है, लड़ना है

अपने से
रुकने के
रुककर सपनों में ही खो जाने के सपने से
थोथे आदर्शों से
मानव को आधीन बनाने की
सुन्दर परिभाषाओं से
झूठी आशाओं से।
जीवन तो रचना है
तीखी लिप्सा के उन्मत्त ध्वंस से उन्मूलित
निर्वासित
छबि के एकायन की
प्राणों में उठनेवाली अतिरेकमयी ममता के
क्षण की
मन की।

हम तुम भी होंगे सहयोगी
इस जीने में
लड़ने में
प्राणों की पीड़ा-प्रसूत सक्षम रचना में।
इससे क्या कि हमारे जीवन की
ऐसी है राह भिन्न
अनुभूति अलग है
अपना-अपना संस्कारों का संचय है स्वाधीन
व्यक्तिगत
इससे क्या
दोनों के मन के छन्द
अनूठे हैं
मौलिक हैं अपने-अपने हैं
क्योंकि, बन्धु,
इस विभेद के हिम की भारी तह के नीचे
जीवन की अन्तःसलिला है

प्रवहमान पावन...।

पत्र तुम्हारा पाया, प्रिय,
गूँथ गये हों मानो मन को मन से
कोमल धागे कच्चे अक्षर...
जाग उठे कैसे स्वर
प्राणों की वंशी में सुप्त अटकते-से चंचलतर।
पत्तों पर बूँदों की टपटप-से
कोमल आघात
प्रकम्पित कर जाते हैं मन के खिंचते-से तारों को
मीठी थपकी-सा हलका आलोड़न
भर उठता है आश्वासन का
प्राणों की काली कारा में।

बरुआसागर
१९४५

## जाने क्यों

जाने क्यों, प्रिय,
जी भरकर बातें हो न सकीं
बढ़ गया दर्द इतना ये आँखें रो न सकीं
बहुतेरा ही दुलराया-बहलाया मन को
पर जगी हुई काली छायाएँ सो न सकीं ।

बनारस
१९४५

## परिभाषा

निस्तब्ध समर्पित मन की अभिलाषा क्या है ?
बन्दी के अन्तर में रीती आशा क्या है ?
अनगिनती तागे उलझे हैं जाने कब से
इस उलझन की क्या जाने परिभाषा क्या है ?

बनारस
१९४५

# जब अर्थहीन चंचलता से

जब अर्थहीन चंचलता से उत्तेजित मन
थक जाता है
लम्बी उदास छायाओं से ढँक जाता है
हो जाता है फीका-फीका
जैसे सूरज उगने के पहले आसमान
जब दूर कहीं से भूल
पूरबी के स्वर ऐसे घिर आते हैं
भटक गये हों ज्यों संझा के पंछी
तब लगता है
आदर्शों की मोटी सख्त तहों के नीचे
बहती है धारा—
अविवेक असंयम की
अतृप्ति के उत्तप्त पिघलते लावे की
जिसकी प्रतिध्वनि से गुंजित है
अस्थिर है जीवन की कारा—।

उस क्षण में तो
निष्ठा के झीने बादल सारे त्रस्त
हवा में घुलकर सब खो जाते हैं
सब अनायास टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं....।

बम्बई
१९४५

# चट्टानें

मैं जूझ रहा चट्टानों से अपने मन की
पड़ रहीं अनवरत चोटें जीवन के घन की
हो उठे प्राण उद्दीप्त एक अभिलाषा से
है चाह न मुझको आज किसी आश्वासन की ।

अहमदाबाद
१९४५

# चाँदनी रात

चांदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों-सी
अथाह भेद भरी गीली...
अलस वसन्त की अनुराग भरी गोद
खुली फैली है
मौन सुधियों के राजहंस दूर-दूर उड़े जाते हैं...

चांदनी रात का सुनसान
है फीका-फीका
गन्ध के भार से सन्त्रस्त-सी वातास
है उन्मत्त काटती चक्कर
रुद्ध पथभ्रष्ट और विक्षिप्त
वासना-सी अतृप्त...
कहीं पे दूर कभी रुक-रुककर
किसी के प्यार-भरे गीत के टूटे-से स्वर
भूल से जागकर
मानो तभी सो जाते हैं।

चांदनी रात है चुपचाप समर्पित
मोहित
अचल दिगन्त के आश्लेष में
सोयी
खोयी अबूझ स्वप्न में,
जैसे तुम ही कभी

चुपचाप अनायास
मेरी गोद में सो जाती हो...
चांदनी रात ओ !

बरुआसागर
१९४६

## प्रतिदान

जब इधर होने लगे शत खण्ड-से मन के
तब तुम्हारा आ रहा आह्वान छन-छन के
मौन ये पत्थर अचल प्रतिध्वनि नहीं उठती
भावनाएँ रह गयी हैं बन्दिनी बन के

बेसुरे इस कण्ठ से, प्रिय, गान क्या होगा
अब तुम्हारे प्रेम का प्रतिदान क्या होगा !

बरुआसागर-आगरा मार्ग
१९४६

# फिर घिरे बादल

फिर घिरे सहसा गगन में आज बादल हैं
बरस पड़ने को असंयत प्राण चंचल हैं
युगों के उत्ताप से जो धरा थी सूखी
नये जीवन के सरस अभिषेक की भूखी
फिर मची हलचल हृदय में उसी धरती के
खुल गये सब बन्द जितने द्वार थे जो के
सैकड़ों अंकुर पलक में फूट निकलेंगे
रुद्ध जीवन-शक्ति को उन्मुक्त कर देंगे
घुलेगा जल एक नव-उन्मेष के जल से
प्राण जागेंगे नये विश्वास के बल से
कवि, करोगे क्या न इस उन्मेष का वन्दन
नये शुभ उल्लास से अभिभूत अभिनन्दन
चाहिए वह कण्ठ जिससे नये स्वर फूटें
छन्द जिनसे शत युगों की शृंखला टूटें
बुद्धि वह जो हो न निज प्राचीर की बन्दी
भावना ऐसी न जो आवेश से अन्धी
टूटकर कुण्ठा पुरानी नया स्वर जागे
कवि, तुम्हीं युग-मार्गदर्शक बन चलो आगे।

आज तुम हो मौन छायालोक में खोये
हैं तुम्हारे कण्ठ के सब गान भी सोये
रिस चली पल-पल अथिर विश्वास की गगरी
चिर तमिस्रा बन चली आलोक की नगरी
हो रहे धुँधले तुम्हारे स्वप्न के अक्षर
बज रहे हैं ध्वंस के अति विषम तीखे स्वर

तुम चले थे विश्व नव-निर्माण करने को
जीर्ण जर्जर काय में रस-प्राण भरने को
था तुम्हारे चरण में आश्वास आशा का
खिली थी मन के गगन में मुक्ति की राका
गर्व तुमको था कि तुम नव-ज्योति-द्रष्टा हो
सिद्धि की अलकापुरी के रूप-स्रष्टा हो
किस लिए फिर चरण कम्पित हाथ रुकते-से
किस अनिश्चय के नशे से नयन झुकते-से
आज भी जल रही जगव्यापो वही ज्वाला
दबी पीड़ा के धुएँ से गगन है काला
मूर्तियाँ खण्डित पड़ी हैं प्राण खँडहर में
गूँजती हैं तड़पती चीत्कार अम्बर में
किस लिए फिर आज भी तुम चाहते थमना
भूल निज को मोह के इस लोक में रमना
उधर देखो क्षितिज कैसा हो उठा चंचल
आ रहे मानो उमड़ते मेघ दल के दल
भर उठा है आज नभ का हृदय संन्यासी
हो गयी है फलवती जो धरा थी प्यासी
बादलों के अश्व थामे वज्र ले कर में
युग-पुरुष ललकारता है मुक्ति-संगर में।

बरुआसागर-बम्बई
१९४६

# नींद नहीं आती है

आज फिर नींद नहीं आती है।
आज फिर किस लिए बुझते हुए दिल की धड़कन
इस तरह तेज़ हुई जाती है ?
आज क्यों नींद नहीं आती है ?

घर में एकान्त है छिपा बैठा
है हवा चीख़ रही दूर कहीं दूर
शून्य बेला है—।
कौन-सी पुतलियाँ चुपचाप
अपरिचित-परिचित
तैरतीं पंख पसारे बेरोक
मन के इस ताल में ?
ये निरुद्देश्य ही आती हैं चली जाती हैं
किसी उजाड़ की प्रतिध्वनि-सी।
और कुछ बात नहीं
कोई भी बात नहीं
पर मुझे नींद नहीं आती है।

कभी किवाड़ खड़क उठते हैं अचानक ही
गली में भूँकता कभी कुत्ता
कभी जवान पड़ोसिन का काँपता-सा गला
मीठी थपकी-सा गूँज जाता है।
मानो यह रात भी डरती हो
अकेलेपन से

इसलिए
भूले हुए गीत की टूटी-सी कड़ी
मन में चुपके-से गुनगुनाती है—
किस लिए आज मुझे नींद नहीं आती है ?

शहर में दूर कहीं,
फूटे-से किसी घर में
टिमटिमाता है इक छोटा-सा दिया,
टूटी खटिया पे पड़े हैं बच्चे दो-तीन
नंगे, भूखे और बदनसीब हैं ये,
बाप उनका था मील का मज़दूर
जो कि कल हो गया शिकार एक गोली का
अमन और शान्ति के रखवालों की अहिंसा का।
हाँ, तो बच्चे ये बदनसीब हैं,
बीमार हैं, भूखे भी हैं,
घर में तो नाज का दाना भी नहीं,
हैं नहीं पास दवा के पैसे
पैसे की तंगी है।
खाट के पास ही बैठी है
उन बच्चों की माँ,
है वह विधवा,
न कोई उसका आज संगी है।
और कुछ बात नहीं,
पर उसे नींद नहीं आती है।

बाढ़ से हो गया उजाड़ एक गांव—
वहीं रहता है,
ज़िन्दगी का कठोर बोझ लिये रहता है,
कष्ट सहता है एक बूढ़ा किसान।
उसने जीवन के साठ लम्बे बरस

सींची है ज़िन्दगी की हरियाली,
नन्हे पौधों को,
नाज की मोती भरी बालों को,
नित नये प्यार से दुलराया है।
आज उसकी ही ज़िन्दगी में कोई प्यार नहीं,
वह अकेला है।
खेत छिन ही चुका,
अकाल में मर गयी थी घरवाली
जेल में बन्द हुआ बेटा जवान
क्योंकि वह हक़ के लिए लड़ता था।
तेल मिलता ही नहीं
उसका घर अँधेरा है,
अब वह कड़ियाँ भी नहीं गिन सकता
अपनी छत की;
किन्तु जब रात को अँधियारे में,
उजाड़ गाँव की कराह-सी आवाज़
साँय-साँय गूँज जाती है
तो उसे नींद नहीं आती है।

मुझे भी नींद नहीं आती है,
मैं हूँ बेचैन
हूँ उन्मत्त
ज्यों सागर कोई लहराता हो
तूफ़ान सनसनाता हो।
कोई रह-रह के मेरे कान में कहता है
फुसफुसाता है,
अब तो यह रात भी जल्दी ही निकल जायेगी
रात यह दुनिया की।
आज तो दुनिया की आंखों में कोई नींद नहीं,
सब ही बेचैन हैं—
बेचैन एक आशा से—

पल में वह पहली किरन फूटेगी
दूर छँट जायेगा यह अँधियारा
और नयी जिन्दगी का सुनहला मीठा आलोक
जग के आकाश में छा जायेगा।

बरुआसागर-बम्बई
१९४६

# कट न जायें डोरियाँ विश्वास की

कट न जायें डोरियां विश्वास की
उस तीर से
जो क्षणिक आवेश में तुम तानते हो
दूर के उस लक्ष्य पर;
स्वप्न हो जायें न धुँधले
टिमटिमाते दीप बुझ जायें न सब संवेदना के
धार लेकर दमित स्वार्थों की
बहे जब द्वेष का अन्धड़।
ज़िन्दगी के दहकते अंगार
दब जायें न ओछी दीनता की राख से।

बन्दिनी है मुक्ति के उल्लास की मृदु धूप
दान नभ का
गान किरणों का सुनहला
अगम सागर के हृदय का स्वच्छ फेनिल हास
सहज उदार—
सारे बिक चुके हैं।
दे रहा उद्धत चुनौती कृपण व्यवसायी
तुम्हें
ललकारता।

समय की उन्मादिनी उद्दाम गंगा के कगारे
टूटते झरते निरन्तर—

आज कौन तटस्थ है ?
कौन है जीवन-मरण के समर का निष्पक्ष दर्शक ?
कौन रेशम के सुनहले तार से बुनकर
अनोखा नीड़
जीना चाहता है अब अकेला ?

किन्तु साथी,
है इसी से तीव्रता इतनी विशिख में
प्रखर प्रत्यंचा इसी से खिंच रही
इतनी असह इतनी कठिन....।
ओ क्रान्तिदर्शी,
यहीं तो संघर्ष है
आलोक के तम के प्रबल इस द्वन्द्व में।
त्रस्त युग की तीव्रता
अन्धी बुभुक्षा
है यहीं संचित प्रबल
अनिवार्य प्रतिहिंसा भरी...।

इलाहाबाद
१९४८

# शिखर

ओ शिखर,
तुम महत हो ।
बादलों की गहन घन-गम्भीरता से
भर गया अन्तर,
किरन-पुंजों का सरस संस्पर्श मृदुतर
ऊर्ध्वगामी पवन की उन्मुक्तता के सहज सहचर
महत हो तुम
हे शिखर ।

चढ़ तुम्हारे शीश पर बौने कुटिल
निज तुच्छता बिसरा
अहम के शाप से पथभ्रष्ट ओछे
चीखते हैं
उछलते हैं दम्भ से ।

हे उदार,
दूर सागर के अगम विस्तार की अभ्यस्त
ये आँखें तुम्हारी
चरणतल की क्षुद्रता पर
चकित विस्मित हैं
नहीं हैं रोष के
विद्वेष के डोरे कहीं उनमें
न छाया घृणा की ।

सहज ममता की तुम्हारी शान्त छायाएँ
प्रलम्बित
गोद में जिनकी
हमारी भावनाओं के चपल शिशु
सो गये हैं।

हे अचंचल
ध्रुव
हमारे मार्ग के निस्संग पथदर्शक
अमर आलोक हो
चिर महत हो तुम
हे शिखर।

इलाहाबाद
१९४८

# निर्झर

अपने जीवन में आकुलता लिये
हमें है बढ़ते जाना
युगों-युगों तक
चिर जाग्रत् है इन प्राणों में
बहने का उत्साह निरन्तर—
बहने का बहते रहने का।
व्यर्थ हमें थमना क्या भाये ?
प्राण समायें
क्या बन्धन में ?
कब से मन में
बजती है उन्माद रागिनी—
और स्वरों की मदिरा पीकर हम मतवाले
बढ़ते जाते
चढ़ते जाते विकास के उत्तुंग शिखर पर,
किस विराट में अपने को विलीन कर देने ?
गति ही जीवन
गति ही है उद्देश्य हमारा
गति ही है अस्तित्व हमारा
हम गति ही हैं।

हम विद्रोही प्राणों की है एक सतह
सब जगह
न कोई भेद-भाव ऊँचे-नीचे का
स्वार्थजन्य गँदलापन

या दुर्गन्ध
सड़े ठहरे पानी की।
टकराते पत्थर आपस में टकराते हैं
फिर भी चलते हैं
आगे चलते रहते हैं
रेत सलोने तन की पिसकर बिछ जायेगी
जीवन तल में
धरा उर्वरा हो जायेगी
अनजानी संघर्षमयी ममता के पल में
नवयुग के अंकुर कण-कण में
फूट पड़ेंगे
भर जायेगा स्रजन-राग से अम्बर
सागर काँप उठेगा
नूतन आशा के स्पन्दन से—।

हम सर्जन की इसी उमड़ती आशा के इतिहास
मुक्ति की गाथा के आलोकित अक्षर
स्वर प्रज्वलित
स्नेह-विह्वल कोयल के।
हम न रुकेंगे
रवि का सब आलोक भले ही चुक जाये
पर हम न चुकेंगे...।

इलाहाबाद
१९४८

## वह शान्ति

तुम नहीं दोगी मुझे वह शान्ति
जो मैं खोजता हूँ।
भावना के धवल शुभ अक्षत चढ़ा
अभिमान की आहुति बना
अस्तित्व के दीपक जला
जो वर विनत हो माँगता हूँ
मूर्ति मेरी,
तुम नहीं दोगी मुझे।
बन्दिनी हो तुम स्वयं
अपनी परिधि की
छू जिसे नव-ज्योति के आवर्त
आहत
लौट आते हैं निरन्तर।

तुम प्रतिष्ठित हो
पुरानी प्राण की अन्धी गुहा में
हैं जहाँ संस्कार जालों-से लटकते
काल की रूखी जड़ें
विक्षिप्त हो फैली जहाँ।
गुहा जिसमें स्नेह की रसधार बरसी हो नहीं
प्लावन न हो पाया प्रणय का
नहीं चमकीं बिजलियाँ अनुभूति की
बोध के आलोक की नव-नवल किरणें भी
न बिखरीं चरण-तल में।

बह गयी इतिहास की वन्या
अदम्या
कर गया कम्पित हृदय झकझोरता
युग-धर्म का अन्धड़
उबलता
दूर तुमसे दूर
तुम निर्वासिता हो
मूर्ति,
अपनी गुहा में
अवरुद्ध अपनी कन्दरा में...।

आज मेरी अर्चना
तुम झेल पाओगी नहीं
सहन अब होगी न
तीखी ज्योति मेरी आरती की
तुम न धारण कर सकोगी
फूल मेरी कामना के
वासना के।

कण्ठ में तेरे
न अब वाणी बची आशीष की
आश्वास की
ओ मूर्ति
तू अब खण्डिता है...
तू मुझे क्या दे सकेगी
शान्ति
जो मैं प्राण की आहुति
चढ़ाकर
खोजता हूँ...।

इलाहाबाद
१९४८

# सुनसान

भारी सुनसान को लाचार लपेटे कस के
आज बाँहें किसी सपने में मौन डूबी हैं
होंठ रह जाते हैं बेचैन तड़पकर यों ही
उन पे गाने को कोई गीत भी बाक़ी न रहा
अधखुले रूप की जलती हुई दो नोकें-सी
जी में रह-रह के लगातार चुभी जाती हैं
दिल के राही को आज राह का कुछ होश नहीं
एक निर्जन में बियाबान में खोया-सा है
सुधियाँ उड़ते हुए पतझर के विवश पत्तों-सी
मन के आकाश में झरती ही चली जाती हैं...।

रूप की इस अजब रात में अब चाँद निकल आया है
आज मन को किसी आश्वास भरी गोद में सो जाने दो।

इलाहाबाद
१९४८

## स्वप्न

कहो मत कि तुम स्वप्न ही हो
बुझी बीतती रैन का
याद आता नहीं जो
तिमिर-गर्भ में डूबकर खो गया हो
अनोखा अपरिचित कहीं
किन्तु जो भर गया हो
पलक के गगन को
नये बादलों से
तड़पते किसी गीत के-से स्वरों से
संज्ञा हृदय की बियाबान
फिर जल उठी हो अनायास
रंगों की लपटों से अनजान...
जैसे सघन बांस के वन
अकारण
सुलग उठते हैं नित
रगड़ अपनी खाकर
हृदय की जलन से...

कहो मत कि तुम स्वप्न ही हो
अचेतन
जिसे खोजता-खोजता मैं स्वयं
खो गया हूँ
सुलगते हुए बांस के जंगलों में
मृगी प्राण की
घिर गयी है अकेली

सुरभिमत्त हो
किस तृषा से व्यथित
किस व्यथा से तृषित
जो भटकती रही जो भटकती रही...

मत कहो
जिस धरा को
तरुण रूप का नील आकाश
अपनी भुजाओं में बाँधे
लपेटे हुए है
समेटे हुए है
सजल कामना के भरे मेघ
जिसके शिखर छू रहे हैं
धरा वह
वही भूमि मरुभूमि है
बाँझ है
तरुण रूप का नील आकाश वह
है नपुंसक
भरे मेघ वे रिक्त हैं
झूठ हैं—
मत कहो स्वप्न ही हैं....

ओ स्वप्न
ओ देवता स्वप्न के
छल करो मत
अभय दो कि मैं मुक्त हूँ
सत्य हूँ।

इलाहाबाद
१९४८

# सागर-क्षण

स्नेह-मदिर संझा में
सागर का तट कुछ आवेग भरा था
कांप रहा था
जल से घिरे शैल-खण्डों पर
सस्मित तुम बैठी थीं
नभ के चंचल रंग निहार रही थीं
लाल, बैंगनी, फीके, उजले
दूर कहीं पश्चिम में
सूरज डूब रहा था
जल्दी-जल्दी अपने जादू को समेटता
उधर क्षितिज पर पाल उड़ाती जातीं
नन्हीं नावों को
छबि में लपेटता
वे उदास किरनें लहरों से
आँखमिचौनी खेल रही थीं
जैसे लहरें तुमसे
तुम मेरे अन्तर से....

उस दिन ही तो अनायास
तुम दीखीं पहले-पहले मानो
और भरे चितवन में कौतूहल अछोर
तुम झांक उठी थीं
नयनों के वातायन से, प्रिय,
तममय मेरे अन्तरतम में।

उन किशोर छबि-किरनों का
वह उस दिन
मानो प्रथम परस था—
या अन्तिम था ?—
जब उन्मत तरंगों का-सा
मन में हाहाकार नहीं था
उस क्षण तो ये प्राण
बह गये थे बेबस
उस रूप-जलधि की लहर-लहर में
वह अजस्र कम्पन ही मानो
मेरे भीतर समा गया था...
वह जीवन में पहला दर्शन था
दो उत्सुक प्राणों का
आसमान से लहरों का
वह प्रथम मिलन
संयोग प्रथम था
जैसे उस विस्तृत दिगन्त की बाँहों में
वह साँझ
अमर आश्लेषबद्ध थी....

कलियां फूट रही थीं उस क्षण
नभ में
मेरे अन्तर में भी
श्याम शैलखण्डों से टकराती लहरों का
रव कानों में
धरती अम्बर के प्राणों में
गूँज रहा था
वह कैसी अभिनव पुकार थी
आत्मदान की
संसृति के गोपन रहस्य की
वह कैसा मोहक दुलार था

उन लहरों का
रूप-जलधि की सम्मोहन-संकुल लहरों का

जीवन के उस शुभ मुहूर्त में
मंगल क्षण में
लहरों के कम्पित दुलार
आतुर पुकार का
सब रहस्य
मैं जान गया था
उस क्षण से ही मैं
उनकी ममता के आगे नत हूँ
उनका आभारी हूँ...

इलाहाबाद
१९४८

## मानस के कवि से

काल के मरुस्थल में
एक दिन
फूट पड़ी निर्झर-सी अमृत-धार
व्यथासिक्त प्राणों के रस की।
धरती का अन्तर
मधुर करुणा से भींज गया
फूटे नये अंकुर नये जीवन की कल्पना के
झर पड़ीं वाणी की किरणें
एक युग के तिमिर में।
कवि एक जागा
ज्योति-पुंज
लेकर संवेदनाएँ नयी
नये कल्पना के चित्र
जीवन-रचना के नये स्वप्न।
देखा था उसने
समग्रता को
पिरोया था
विच्छिन्न सब जीवन के तत्त्वों को
एक नये सूत्र में।
युग के विशृंखल विषम स्वरों से
जीवन की पूर्णता का
सम्मिलित अखण्ड संगीत
महागान
हुआ ध्वनित-प्रतिध्वनित।

कवि
तुमने मानव के सुख-दुख का
हास का, रुदन का
रचाया इतिहास
युग की सब आशा-आकांक्षाएँ
मुखर थीं तुम्हारे उन छन्दों में।
कितने युग
चेतना के नूतन निर्माण-परिष्कार के लिए
हैं तुम्हारे ही कृतज्ञ
चिर आभारी।

जीवन के वे सब दृश्य आज नहीं रहे
बदल गये संस्कृति के
समाज के मानदण्ड
पड़ गये पुराने निस्सार
वे विचार
हो गये खोखले वे सारे आदर्श
वे सारी मर्यादाएँ
सीमाएँ
बन गयीं जन-जन की बेड़ियाँ
धर्म और नीति के वे संस्कार
आज बने दासता के रावण के अस्त्र
पराजय की लंका के प्रहरी।

किन्तु कवि
आज भी अमर है तुम्हारा वह
भावना की किरणों का आलोक
आज भी
तुम्हारी अमित करुणा का सागर अछोर
काँपता है पावन सुरम्यता से
जीवन के स्पन्दन से।
जन-मन के सुख-दुख के

तुम्हारे उन चित्रों के रंग
आज भी हैं वैसे ही अम्लान
वैसे ही ज्वलन्त।
तुम्हारी वे मानस-किशोरियाँ
अखण्डयौवना हैं
हैं वैसी ही ममतामयी
शान्तिमयी।

जब तक आषाढ़ के गगन में
घनघमण्ड गरजेंगे
डरपेगा प्रियाहीन मन किसी प्रीतम का
जब तक कोई लाजवती
कंकन के नग की परछाँहीं में
चुपके से
निहारेगी साजन का रूप
जब तक किसी के अनुराग भरे बैन
अटपटे
करते रहेंगे किन्हीं प्राणों को
करुणा से विगलित अभिसिक्त—
तुम तब तक तुलसी
सदा विहरोगे
मेरे
जन-जन के मन-मन्दिर में।

ओ साधक
हैं आज भी वैसे ही पीड़ित
और दुखी
नर-नारी सब।
विकल है अयोध्या जगत की
फिर राम वनवासी हैं—

अगणित ये राम
ये जन-जन।
धरती की सीता है हरी हुई बन्दिनी
कुटिल राक्षसों की स्वर्ण-लंका में।
किन्तु ये राम दुर्निवार
फिर आज भी बढ़ते हैं
लांघते हैं सागर अँधेरे के
कुटिलता के।
बन्दिनी सीता फिर होगी स्वाधीन
होगा शुभ मिलन फिर एक बार
प्रभु फिर लौटेंगे अवध को
होगा प्रताड़ित असंख्य जन-जन का
फिर राज्य-अभिषेक
फिर होगा जयगान...।

कवि
फिर तुम्हारे रथचक्र की लीकों पर
चलकर ही
होगा निर्माण
नये युग के नये मानस का।

लखनऊ
१९४८

## पलायन

तुम अपने से भाग रहे हो
अपने मन की छायाओं से खेल रहे हो आँखमिचौनी।

रची तुम्हीं ने थीं
अपने अन्तर की सड़कों पर अनजाने
बैरीकेडें
टेढ़ी-मेढ़ी प्राचीरें
जिनसे—
तुम सोच रहे थे—
रोक सकोगे हमलावर को
अपने मन के
तुम अपने को मान रहे थे रक्षित
थे निश्चिन्त बेखबर।
आज फँसे हो तुम
अपने ही रचे हुए दुर्गम व्यूहों में
टेढ़े-मेढ़े गलियारों में
प्राचीरों की भूलभुलैया में उलझे हो
इसीलिए तुम अपने मन की छायाओं से भाग रहे हो।

पर क्या सचमुच भाग सकोगे ?
बिना लड़े क्या तोड़ सकोगे
चक्रव्यूह यह
ये प्राचीरें ?

आज जूझना ही होगा
चाहे-अनचाहे,
प्राण हथेली पर रखकर
सब पिछला क़र्ज़ चुकाना होगा
जीवन की अन्धी गलियों के भीतर होकर
अपना मार्ग बनाना होगा
जाना होगा... ।

इन गलियों के पार उमड़ता है
जीवन का दरिया
अपने कूल तोड़ता
अपनी गति की नयी-पुरानी सीमाओं के
बांध फोड़ता
युग-युग के संस्कारों के खँडहर ढाता
रेगिस्तानों के सूखे रेतीले दिल में
नये प्यार का ज्वार बहाता
रूप भरी हरियाली लाता ।
इस दरिया में तुम अपने को बह जाने दो
भर जाने दो अपने मन में
इस उभार को
नये बौर के इस सौरभ से
अपने दिल की अमराई को बस जाने दो ।

व्यर्थ तुम्हारी बेरीकेड़ें
प्राचीरें सब टेढ़ी-मेढ़ी
चक्रव्यूह है धोखा कोरा
मन के सारे बांध तुम्हारे
रोक रहे हैं तुम्हें
स्वयं
अपने जीवन से ।

अब मत सोचो
आत्मसमर्पण कर दो,
पल में
हो जायेगी मुक्ति तुम्हारी ।

इलाहाबाद
१९४९

## बादल

तुम बादल हो
सरल स्नेह-सी उमड़
एक दिन मेरे अन्तर की धरती पर
मधुर जल भरे
घिर आयी थीं
एक नयी आशा से
धरती पुलक उठी थी
फूट उठे थे अंकुर अनगिनती अनजाने।
और सत्य ही तुमने
तब से
प्राणों का मधु बरसाकर
सींच दिया है कण-कण आकुल उत्सुक।
इस पावन प्लावन से, प्रिय,
नद-नदी भर गये
छलक उठे हों जैसे प्याले
धुली-धुली हरियाली
विह्वल उमग उठी
डालें लहरायीं
नये-नये गीतों के स्वर हो गये मुखर
नित गूँज-गूँजकर।

तुम बादल हो
अपने प्लावन से
मेरे अन्तर की जड़ता बहा ले गयीं
कटुता की नीरस मिट्टी के ढूह

गल गये
हरे हो गये सूखे डण्ठल।
जुते हुए खेतों-सा मन
अब प्रस्तुत है
जीवन की नित-नित नवीन
सुकुमार कोंपलों में
अपना अस्तित्व सँजोने
सार्थक हो जाने को प्रति पल।
दान तुम्हारा
मेरे अन्तर की सीपी में मोती होगा
नये स्वर्ग के फूल खिलेंगे
नयी कल्पना के शिखरों पर।

ओ बादल,
मैंने इन प्राणों के प्रसार पर
आर-पार तक
ओढ़ लिया है स्नेह-सिक्त आवरण तुम्हारा
और मूँदकर नयन
स्वप्न में हो विभोर
मैं देख रहा हूँ
ऊँचे-नीचे शिखरों पर
मेरे अन्तर के
जीवन-सन्ध्या में पाकर संस्पर्श तुम्हारा
कितनी सुन्दर किरणों के
सातों रंगों के चंचल शिशु
नाच उठेंगे
थिरक-थिरककर
नयी सृष्टि के अग्रदूत-से।

लखनऊ-इलाहाबाद मार्ग
१९५१

# मोरा कहीं बोला

मोरा कहीं बोला
तड़पकर
कहीं दूर
चम्पा बाग़ में
बदरिया झुक आयी
उमड़-घुमड़
घिरी घनघोर
जिया डोला...
मोरा कहीं बोला ।

बिजली कहीं चमकी
काली बदली के बीच
जैसे कोई चीर गयी याद की कटार
पल भर को
उमगा किसी का मन भोला....
मोरा बोला ।

रिमझिम-रिमझिम बरसै मेहा
झरै दिन-रात
छोह भरी तरसै सुहागन
अकेली
हिया कांपे
भरी बरसात

भरे सब रीते तालाब
छलक उठा नेहा
पुरबा के झोंके से
सिहर के
नयी दुलहिन ने
चुपके से अपने हिये का भेद खोला...
मोरा कहीं बोला।

लखनऊ-इलाहाबाद मार्ग

१९५१

## हम न सुनेंगे गीत तुम्हारे

हम न सुनेंगे
आज तुम्हारे गीत
घृणा के नये-पुराने ठेकेदारो,
गीत तुम्हारे हम न सुनेंगे।

हम तुमको पहचान चुके हैं
ओ जल्लादो !
ऊपर से तुम लाख पहन लो
दीन-धरम के लम्बे चोग़े
धुले दूध-से गोरे चिट्टे
ले लो चाहे जितनी मोटी हाथ सुमिरनी
पर हमने तो देख लिया है
रूप तुम्हारा
इस उजली चादर के नीचे
दाग़ ख़ून के
छिप न सकेंगे
ढक न सकेंगे पाप तुम्हारे
चल न सकेगा और अधिक पाखण्ड तुम्हारा।

क्षुद्र स्वार्थ के लालच में तुमने
अपने को बेच दिया है
क्रूर आततायी,
तुम तिल-तिल तोड़ रहे हो

मानव-मन की युग-युग से संचित
पूजित प्रतिमाएँ सारी
कला-सभ्यता की
संस्कृति की।
तुमने मज़हब डुबो दिया है
गरम रक्त की वैतरिणी में
और अभी तक
प्यास तुम्हारी बुझी नहीं है—
तुम्हें और नरमेध चाहिए
तुम्हें अभी तो युद्ध चाहिए।

साक्षी है इतिहास
सदा से
जब-जब मानव मुक्ति-युद्ध के लिए
एक हो
शस्त्र उठाता
अत्याचारी का दुनिया से नाम मिटाने
एक साथ जब भी जन-जन बढ़ते हैं आगे
समता का संसार बनाने
जब-जब भी आज़ादी के अविजेय सिपाही
क़दम बढ़ाते
पराधीन करनेवालों का रक्षित दुर्ग तोड़ने को
प्राणों की होड़ लगाते—
तभी-तभी तुम भय से हो विक्षिप्त
चलाते अपना अन्तिम अस्त्र
रचाते व्यूह फूट के।

पर ओ दम्भी !
इसका भी साक्षी है यह इतिहास
न रुक सकती है सेना

आज़ादी की—
सेना जो निकली है
दुख से कातर जन को धीर बँधाने
स्वार्थ-विषमताहीन
कल्पना की दुनिया धरती पर लाने
समता और प्रगति के सपने सत्य बनाने।
यह आज़ादी की सेना ही
निहित स्वार्थ के गढ़ को चकनाचूर करेगी
भेद-भाव को दूर करेगी
रक्खेगी यह नींव शान्ति की
नये मानवी सम्बन्धों की
अटल नये भाईचारे की।

आज तुम्हारे गीत
घृणा के ठेकेदारो,
हम न सुनेंगे
अब हम अपनी क्षमता को पहचान गये हैं
अब हम आगे बढ़कर
खुद अपने हाथों
अपना भविष्य निर्माण करेंगे।

इलाहाबाद
१९५२

# आज शायद

आज शायद मैं अलभ एकान्त अपना पा गया हूँ
राजपथ से भटक फिर परिचित डगर पर आ गया हूँ
लुट गये जाने कहाँ रससिक्त वे सपने सुबह के
मुट्ठियों में रह गये हैं बन्द अब अंगार दहके
ओस की बूँदें नहीं अब प्यार की चम्पाकली पर
छुट गयी है रूप की वह चाँदनी पथ में कहीं पर
रिक्त है सूखी नहीं पर नेह की अधभरी गगरी
साँझ में मुँदते कमल-सी अधखुली है प्राण-नगरी
क्या वही आहट इसी से प्राण की गहराइयों में
गन्ध का उन्माद ज्यों बौरी हुई अमराइयों में
चैत की यह साँझ घूँघट खोलती है लाजवन्ती
डाल-डाल पलाश फिर सुलगा गये ज्वाला बसन्ती
छू गयी हैं उँगलियाँ सुकुमार किरनों की गगन को
कौन-सी मायाविनी पहचानती है इस लगन को
एक पल बस और फिर खुल जायेगा वह भेद सारा
काँपती लहरें अगम या तिमिर में डूबा किनारा ।

रीवाँ-इलाहाबाद मार्ग
१९५४

# बेसुरा

ज़िन्दगी की बेसुरी इस बाँसुरी से
कौन-से स्वर
कौन-सा संगीत निकलेगा
कहो,
किस अछूते हृदय के
भोले उमगते गीत गूँजेंगे ?
उँगलियाँ जकड़ी हुई-सी हैं
अहेतुक प्राणघाती तिक्तता से
छुट गया है सहज स्वरसन्धान
हो गया है राग विस्मृत—
और रीता मन
बुझा-सा
छू न पाता है
नये आलोक की वह कोर
रस-डूबी, सुनहली...
जिन्दगी की बाँसुरी में
अब नहीं है
वह उमड़ती तड़प पहली।

अजब है मन
जो बुझा है और रीता है
मगर बेचैन है
जो रुद्ध जल के घुमड़ते आवर्त-सा
टकरा स्वयं से
काटता दिन-रात चक्कर

क्रुद्ध आहत सर्प-सा फुफकारता
अभिशप्त अपनी ही तृषा से
असह विष से।
खोज है वह कौन-सी
बोलो,
अभी किस रक्तमणि की?
है प्रतीक्षा
कहो
किस उन्मेष के उल्लास में डूबे हुए
अनमोल क्षण की?
स्नेह की मंगल घड़ी की?

क्या तड़पकर बज सकेगी
फिर कभी भी
बेसुरी यह बाँसुरी इस ज़िन्दगी की?

रानीखेत
१९५४

# सुनो, चीड़ के पेड़

सुनो,
चीड़ के सनसनाते हुए पेड़,
मेरी कहानी सुनोगे ?

यहाँ तुम खड़े हो
गगन में तने सिर उठाये हुए
गर्व से
गहराइयाँ झांकते-से अतल की
उधर सामने चोटियां हैं
शिखर
जो घिरे बर्फ़ से
जो बादलों का हृदय चीर खुलते कलो-से
अछूते अचुम्बित—
शिखर जो अडिग हैं अगम हैं महत हैं
मनुज के अमिट स्वप्न-से
लालसा-से
शिखर ये तुम्हारे सखा हैं युगों के
पहली सुबह की किरन
मुसकराकर
सदा छेड़ जाती इन्हें भी तुम्हें भी।

ओ चीड़ के पेड़
तुम आज मेरी कहानी सुनोगे ?
तुम्हें भी विकल ज़िन्दगी की
कथा सब

सुना दूँ
कि मैं लांघना चाहता था अगम को
तड़प थी कि बौने करों को बढ़ाकर
पकड़ लूँ अभी चाँद-सूरज
कि मैं चाहता था सभी कुछ
बहुत-से बड़े स्वप्न थे
इस हृदय में
नहीं थो
नहीं, शक्ति ही बस नहीं थी
उठे बाहुओं में
तड़प थी बहुत किन्तु क्षमता नहीं थी।
इसी से गरुड़ के सभी पंख
टूटे हुए हैं
विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
आज झुलसी हुई हैं
खण्डिता मूर्तियाँ हैं...
ओ चीड़ के पेड़,
मैं हूँ मरुस्थल
मैदान जलता हुआ-सा
पड़ा जो शिखर के चरण से बहुत दूर
जलता-सुलगता...

अभी रात भी सामने घाटियों में
अकेली पड़ी
गिन रही तारिकाएँ
चुपचुप अँधेरा बिछा है
उतरती हुई मौन पगडण्डियों पर।
तुम्हीं बस
किसी याद में जग रहे हो
मुखर हो
सागर गरजता किसी बेकली का
तुम्हारे हृदय में।

इसी से अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं
ओ चीड़ के पेड़
मरुभूमि की यह सुलगती कहानी—
सुनोगे ?

रानीखेत
१९५४

## मैं सागर हूँ

मैं सागर हूँ
जिसकी सौ-सौ गर्वीली उत्ताल तरंगें
तट से टकराते ही
कैसी नरम फेन-सी झर जाती हैं
अनगिनती टुकड़ों में बँटकर
मिटकर
अलग बिखर जाती हैं
पर तो भी जो
कँकरीले सूखे तट को
आप्लावित करके
नयी आर्द्रता
नयी गन्ध, सोंधी सुवास से भर जाती हैं।

सागर जीवन है
अछोर बेचैन तड़पता
लहर-लहर बनने को
आत्मसमर्पण को
मिटने को तत्पर
तट है धरती संयम सीमा
आघातों को झेल
समोकर भीतर
चिर अभिषिक्त डूबती रस में।

वह भी क्षण था
जब जीवन केवल सागर था

जब मैं था निस्संग अपूर्ण अधूरा
गरम उबलता लावा जब नभ से टकराकर
जल बनता था
तभी न जाने किस मंगल क्षण में
रीता वह
दिशाहीन अवकाश भेदकर
तुम झाँकी थीं
मानो कोई नयी स्वर-लहर
काँप गयी हो गहन विजन में।
वह पहला दर्शन ही तो संयोग प्रथम था
सागर का तट से
जीवन का धरती से
बेचैन तड़पते प्राणों का छबिपुंज देह से।

तब से अब तक लगातार तुम
भरे हुए हो मुझको
अपने गहन अंक में
तुमने बाँध लिया है
मेरे उद्वेलित अबिराम धड़कते अन्तर को
अपनी फैली उत्सुक बाँहों में
सीमाहीन किनारों की चंचल सीमा में घेर
मुझे सार्थकता दी है...

इसीलिए, ओ धरती,
तुम धरती हो
मैं हूँ सागर
जिसकी गर्वीली उत्ताल तरंगें
तुमसे टकराते ही
उज्ज्वल नरम फेन-सी झर जाती हैं।

दिल्ली
१९५५

## अजाना अतिथि

ओ अपरिचित देश के पन्थी
डरो मत इन क्षणों से
इस अनिश्चित लग्न में
प्लावित किनारों की व्यथा से
सहज मन से करो अंगीकार
यह अयाचित दान प्राणों के जलधि का
अमृत का विष का...

मरण-जीवन के चरम सीमान्त का
यह लघु मुहूर्त
अपूर्व है
पावन प्रणय-सा।
अतिथि है
व्यथा के नव-लोक का पाहुन तुम्हारा,
बढ़ो स्वागत में उमड़कर चूम लो यह भाल
क्षत-विक्षत युगों का
विगत सपनों का...

बात मानो
अजाना है अतिथि फिर भी है वही
खोज में जिसकी चले थे तुम सबेरे
राह में जिसकी गिराया है नयन-जल
है बिखेरा गीत-कुसुमों का
सलज परिमल अकुण्ठित....

यही है वह देश
पन्थी
जहाँ सपने तीर-सी पैनी प्रबल संवेदना से
विकल आहत हो
अचानक सत्य होते हैं
डरो मत
करो अंगीकार
घायल स्वप्न के अपने अतिथि को।

दिल्ली
१९५८

## कभी-कभी

कभी-कभी
पीपल के पत्तों पर सिहरती
पंचमी की चाँदनी
ठिठक
असमंजस में विजड़ित हो
पल भर निहारती है
मानो किन्हीं अधकहे
शब्दों की नोक ने
धीमे से छूकर
केवल कुरेदा हो सतह को।
तो भी न जाने क्यों लगता है
मन के कगारों को तोड़ती
अबन्ध्य वन-धारा बह आयी है
अजस्र अन्तहीन
मन किसी रसवन्ती नदी की घाटी-सा
सजल परिपूर्ण हो उठता है...

और फिर कभी-कभी
पूनो की जुन्हाई भी
चाहे प्रगल्भा रस-वन्या-सी उमड़ती हो
भृकुटि-विलास से तन झकझोरती
लालसा के बाणों से बेधती—
तो भी मन खोया रह जाता है
छायाहीन ठूँठ-सा असंग
जलते पठार-सा प्यासा अभिशप्त

अर्पण-निवेदन के हलों से जुती हुई
धरती भी
लगती है वंचिता वन्ध्या...

क्योंकि तुम—
सुनो मैं तुम्हीं से कहता हूँ—
चाँदनी
कभी तुम मन का सम्मोहन हो
कभी तुम्हीं कुण्ठा हो।

दिल्ली
१९५८

# आरम्भ

दीर्घ उत्ताप की संज्ञाहीन कुण्ठा के बाद ही
अचानक अनपेक्षित
यह पहली फुहार रसमयी—
जैसे किसी प्रीति की
स्पन्दनहीन कड़ी निष्प्राण-सी मिट्टी
तनिक भीग गयी
रुँधे हुए तन-मन के रन्ध्र-रन्ध्र खुले
मुक्ति की उसांस-सी सोंधी सुवास
भर गयी निर्बन्ध
कैसे अपरिचित-से सुख के नये अंकुर
कुनमुनाये
कहीं झुलसी हुई धरती के
अँधेरे अन्तराल में
मीठे अनोखे संस्पर्श से रोम-रोम कांपा
विस्मृत अभिव्यक्ति की पुकार
अनजाने ही जागकर फूट पड़ी
व्यथासिक्त चीख-सो अचरज भरी।

सुनो
यह अभी से ऐसी विह्वलता
ऐसी बेकली
अभी तो यह पहली फुहार है
पहला हिलकोरा है
प्रीति की शीतल बयार का।

सुनो
सच
अभी मत इतना अकुलाओ
यह तो अभी केवल आरम्भ है
कब से अभीप्सित
उस वन्या की
पावन प्रतीक्षा का नव मंगल-क्षण है।

दिल्ली
१९५९

## मुक्ति है कटार

माना कि मुक्ति है कटार
अनासक्त
जो बेधती है अपना ही हृदय
जो अपने ही भीतर तक चुभती है
मुक्ति की पीड़ा है तीव्र असहनीय
जो विलग कर देती है
परायों से अपनों से
रच-रचकर सँजोये हुए सपनों से

माना कि एक दिन उसी की चाह में
तुमने सब सरबस लुटाया था
बार-बार रुधिर से भरी थी माँग
बस उसी के वरण को
प्रीति में उसकी ही
सूली की सेज स्वीकारी थी
आज तक जिसके आघात से
तन-मन तुम्हारा
अवसन्न है
आहत क्षत-विक्षत है।

आज तुम कातर हो भय से
विक्षुब्ध हो
कुण्ठित हो अपनी पराजय से
फिर भी बेचैन हो,
किसी अनजानी तड़प से

अपरिचित-सी लालसा से अस्थिर हो
विवश हो....

सुनो
तुम आँख मत मूँदो
अपने ही प्राणों के जलते उस सत्य से
भागो मत
आज भी बेकल हो तुम
उसी प्रीति से
कवच यह तुम्हारा सब झूठा है
शान्ति-सन्तोष सब आड़ है दिखावा है
मिथ्या हैं तुम्हारे सब माया-मन्त्र
और सब प्यार भी छल है बहलावा है।

बोलो
यों डरकर अपरिचित से
अनजाने चमचमाते ठीकरे सजाने से क्या होगा ?
रीते आश्वासन की थपकी से
मन के चपल शिशुओं को
सुलाने से क्या होगा ?
खिलते हुए कमलों की गन्ध को
ढँकने-दबाने से क्या होगा ?

सत्य से भागो मत
मुक्ति सचमुच ही कटार है
पैनी दुधारी अनासक्त
जो पल भर में प्राणों के पटल चीर देगी ही
और कर देगी उजागर
जो

तुम्हारे ही जीवन का मर्म है
प्यार है तुम्हारा
जो तुम्हीं हो

नंगी इस कटार से डरो मत
तुम्हीं स्वयं तुम्हीं तो मुक्ति हो।

दिल्ली
१९५९

## सहसा यह क्या

सहसा यह मन में क्या किरन-सी उतर गयी
मोहिनी किसी मायालोक की बिखर गयी,
पल भर—बस केवल एक क्षण के उन्मेष में
कैसी अपरिचित उत्कण्ठा-सी भर गयी

सपनों को किसी ने अचानक सँजो दिया
मन के जुही फूलों को सहज ही पिरो दिया
रोम-रोम जाग उठा आकुल प्रतीक्षा में
प्राणों को विवश व्यथा में समो दिया

मन का यह भाव क्षणभंगुर हो छल हो
प्रीति की पीड़ा तो सत्य है पावन है
मोह का जादू चाहे जितना भी चंचल हो
समर्पण की कालातीत मुक्ति तो चिरन्तन है।

दिल्ली
१९५९

# पँचमढ़ी की एक शाम

दूर ऊँची पहाड़ी पर
ठोड़ी टिकाये बैठी वह शाम
कितनी मासूम थी
खोयी-सी सूनी उदास बड़ी-बड़ी आंखों से झांकती
अचानक मुझसे कहने लगी :
'इतनी दूर से क्यों ?
पास आकर बैठो न।
कुछ बात करो
न सही बहुत देर
पल भर ही—
मुझे ही कौन बहुत फ़ुरसत है।
जानते नहीं
और सब लोग आगे गये
मैं ही अकेली पीछे अटकी खड़ी रही
न जाने क्यों।
शायद कुछ भूल गयी हूँ
फैली हुई घाटियों की
हरी मखमली चादर की परतों में
तनी खड़ी या ढलती हुई पहाड़ियों के
सदियों पुराने पत्थरों में
झूमते पेड़ों की फुनगियों में
लम्बी सीधी लकीर जैसे झरने के
रुपहले गोटे में—
अवश्य कहीं
कुछ छुट गया उलझ गया होगा

यह लगता है।
पल भर उसे खोजूँ—
पर नहीं
रुकने का समय कहाँ ?
अवकाश ही नहीं है
जल्दी है—
यहाँ सब को सदा जल्दी पड़ी रहती है।
ओह !
यह लो
पीछे से किरनों की रस्सियाँ खिंचने लगीं
कठिन है रुकना अब
सच
सुनो, कितने बेदर्द हैं लोग।
चाहे जो छूटे रह जाये टूट जाये
रुककर सम्हालने-समेटने की
आज्ञा नहीं है
ठहरना मना है
हँसकर पल भर बतियाना भी
नियम के विरुद्ध है—
बड़े बेदर्द हैं ये लोग।
ओफ़, चलो, चलो,
चलती तो हूँ !'

यही कहती-कहती
वह भोली मासूम शाम
अपनी रंगबिरंगी चूनर समेटती
और अपने सलोने रूप का जादू बिखेरती
बेबस
पहाड़ियों के पीछे उतरकर चली गयी।

पँचमढ़ी
१९६२

# एकान्त

कितने दिनों बाद आज फिर जब
तुमसे सामना हुआ
उस भीड़ में अकस्मात्
जहाँ इसकी कोई आशंका न थी
तो मैं कैसा अचकचा गया
रँगे हाथ पकड़े गये चोर की भाँति।
तुरत अपनी घोर अकृतज्ञता का
भान हुआ
लज्जा से मस्तक झुक गया अपने-आप।

याद पड़ा तुमने ही दिया था
वह बोध
जो प्यार से उलझे हुए धागों को
धीरज और ममता से सँवारता है
दी थी वह करुणा
जिसके सहारे
आत्मीयों के असह्य आघात सहे जाते हैं
सह्य हो जाते हैं
और वह अकुण्ठित विश्वास
कि जीवन में केवल प्रवंचना ही नहीं है
अन्तर की अकिंचनता से प्रतिष्ठित
सहयोगियों की कुटिलता ही नहीं है
किसी क्षणिक सिद्धि के दम्भ में
शिखर की छाती कुचलने को उद्यत
बौनों का अहंकार ही नहीं है—

तुम्हारी ही दी हुई थी
वह अनन्य अनुभूति
कि वर्षा की पहली बौछार से
सिरचढ़ी धूल के दबते ही
खुली निखरनेवाली
आकाश की शान्तिदायिनी अगाध नीलिमा
वर्षों बाद अचानक
अकारण ही मिला
किसी की अम्लान मित्रता का सन्देश
दूर रहकर भी साथ-साथ एक ही दिशा में
चलते हुए सहकर्मियों का आश्वासन—
ये सब भी तो जीवन में हैं
तुमने कहा था।

यह सब
न जाने और क्या-क्या
मुझे याद आया
और एक अपूर्व शान्ति से
परिपूर्ण हो गया मैं
जब आज
अचानक ही भीड़ में
इतने दिनों बाद
तुमसे यों सामना हो गया
ओ मेरे एकान्त !

पँचमढ़ी
१९६२

## ओस

सबेरे
पत्तियों पर सोयी हुई बूँदें सुहावनी
धूप के चढ़ने के साथ
सूख जाती हैं
फिर भी शायद
उनकी वह भीगी हुई छाप
पत्तियों से पूरी तरह मिटती नहीं
दिन भर धूप में तपकर
झुलसकर
वे रात को फिर उन्हीं बूँदों के लिए
तत्पर हो
ललककर बिछ जाती हैं।
जैसे मेरे छोटे-बड़े अनगिनती संकल्प
मन की नयी पत्तियों पर
ओस की बूँदों से ढलकते हैं
दिन चढ़ते ही सूख जाते हैं
और रात होते-होते
फिर मन उसी सम्मोहन में बँधा
अगले दिन के
वैसे ही अधूरे टूटे कभी न पूरे होनेवाले
अनगिनती संकल्पों को सँजोने
ललककर तैयार होता है।
क्योंकि अभी पत्तियाँ
सूखकर झरी नहीं हैं
अभी तक मन वीरान बियाबान नहीं हुआ है

सूखे कँटीले झाड़-झंखाड़ों से भरा नहीं है
अभी तक
कोमल
सुकुमार नयी पत्तियों पर
हर सबेरे
छोटे-बड़े संकल्पों की
सुहावनी ओस
अम्लान मोतियों-सी बिखरी रहती है।

बड़ौदा–दिल्ली मार्ग

१९६२

# जो हम नहीं हैं

हम वही हैं जो हम नहीं हैं।
भाव जो कभी मूर्त न हुए
शब्द जो कभी कहे नहीं गये
जीने की व्यथा में डूबे हुए स्वर
जो ध्वनित नहीं हो पाये
राग नहीं बने
जीवन के अचीन्हे सीमान्त के
चरम क्षण
होने न होने के
अपनी अनन्तता में ठहरे रहे
निरन्तर अपनी अतीन्द्रिय सम्पूर्णता में
जीते रहे
पर बीते नहीं भोगे नहीं गये...

आकार-रूप-हीन आघात
जो बस सहे ही गये
अनजाने-अनचाहे
आँखों की कोरों में
उमड़े हुए आंसू-से अनदीखे
अटके ही रहे झरे नहीं
वही हैं हम
जो नहीं हैं।

दिल्ली
१९६३

## प्रस्तुत

आओ
अब कोई भय नहीं
असमंजस नहीं ।
दीपमाला लगी तैयार है
आरती का थाल सज चुका
है बड़ी धूमधाम अब
तुम्हारे प्रतीक्षित आगमन की
अब तो
तुम्हारी अजन्मी सुन्दरता ही
हमारे आकांक्षाओं के प्यालों में
भरी है छलछल
तुम्हारी अपरिचित पावनता
बन्दनवारों-सी बँधी है हमारे द्वार-द्वार
तुम्हारी अपरिमित उदारता की
लगी है गली-गली हाट जनमगाती हुई ।

विश्वास करो
हमने सारा विवेक
कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान
नयी लाल मिट्टी-सा
तुम्हारे पथ में बिछाया है
रंग-बिरंगी झण्डियाँ लटकाने को
सपने ऐंठकर रस्सियाँ बट ली हैं
करुणा के घटों को बन्द कर
हमने उनपर

नारियल ढँक दिये हैं
तुम्हारे मार्ग में
मंगल-चिह्नों के रूप में रखने के लिए...
हमने पहचान लिया है
आज की आस्थाएँ तुच्छ हैं
इसीलिए हमने अपने ही पैरों से
उनकी छायाओं के वक्षस्थल
कुचलकर
अपने अदम्य उत्साह के आघात
उसपर अंकित कर दिये हैं...

अब और कोई कमी नहीं
विश्वास करो
अब और कोई संशय नहीं
कोई डर नहीं
किसी दुविधा का द्वन्द्व का ।

आओ
हम आज अपने अस्तित्व को मिटाकर
सर्वथा विसर्जित कर
तुम्हारे ही एकान्त स्वागत में
पूरी तरह प्रस्तुत हैं
तत्पर हैं ।

दिल्ली
१९६३

## हर निमिष वरण है

माना कि हर निमिष वरण है
जीवन-मरण की
अनन्त सम्भावनाओं के बीच।
कितनी असंख्य स्थितियां हैं
मरने की
मरते-मरते अचानक ही जीते रह जाने की
पूरी उत्कटता से या कुछ-कुछ ही जीने की
अथवा विभिन्न आधे-आधे
जीवनों में से
कोई एक सहने को—
कितनी सम्भावनाएँ हैं।
सफलता-असफलता
अथवा ग्लानि और दीनता से सजी हुई सफलता
या प्रलोभन के आगे न झुकने की
शान्ति से कण्टकित असफलता—
किसी को तो चुनना ही पड़ेगा
क्योंकि
असमंजस भी एक सम्भावना है वरण है।

इसीलिए वे लोग ही सुखी हैं
जो सहज चुन पाते हैं
जो जानते हैं
जीवन का सीमाहीन ताप
प्राणों का निरन्तर दाह
प्यार की अन्तहीन जलन नहीं

क्षणिक आलिंगन की शीतलता ही
प्रियतर है
अनन्यता समर्पण नहीं
तीखी उत्तेजना की चमक
चकाचौंध ही श्रेष्ठ है
सुविधा से समझौता ही अच्छा है।
अच्छा है सब कुछ स्वीकारना
कह सकना
'अनुगत हैं हम
अनुयायी हैं
आप जो कुछ भी कहें, करें
हमीं उत्तरदायी हैं।'

दिल्ली
१९६३

# वसन्त की दो कविताएँ

[ १ ]

लगता है आखिरकार
वसन्त ने भी शिशिर के आगे
आत्मसमर्पण करके
समझौता कर लिया है
जैसे कवियों ने नेताओं से ।
तभी तो
पता नहीं लगता
वसन्त कब आया कब चलता बना
या आया ही नहीं ।

निस्सन्देह
पत्ते अकारण ही झरकर
सड़कों पर दालान में भीतर तक बिखर गये हैं
मंजरी की महक सहमी-सी कभी-कभी
कमरे में घुस आती है
फीकी-फीकी मुरझायी-सी सरसों
या इक्का-दुक्का सकुचाये बुझे-बुझे-से पलाश
दीख जाते हैं ।
पर हवा—
हवा कुछ दूसरी ही है
बहकी-बहकी
सुहानी नहीं
धूल के अन्धड़-सी या बेहद बरफ़ीली ।

दृश्य वही हो
पर संवेदन भिन्न है
आस्वाद बदल गया है
मिलावटी घी की भाँति ।

कितना सुन्दर लगता है प्रत्येक झूठ
कितनी आकर्षक है संवेदनहीनता
या मिथ्या संवेदन की आसानी का कवच—
हम सभी ने अपने-अपने शिशिर से
समझौता कर लिया है ।

दिल्ली
१९६७

[ २ ]

वसन्त ऐसा झूठा भविष्य है
जो आकर भी कभी नहीं आता
संकल्प पत्तों की तरह झरते जाते हैं
और खाली मन
नंगा ठूँठ जैसा खड़ा
अन्धड़ के थपेड़े सहता हुआ
फाँकता रहता है
धूल धूल सिर्फ़ धूल....।

दिल्ली
१९६७

# हमारे अन्य कविता-संग्रह

| | | |
|---|---|---|
| महावीर गीतिका | राम भारद्वाज | ३.०० |
| तीसरा पक्ष | लक्ष्मीकान्त वर्मा | १३.०० |
| चार तार [ पुर. ] | डॉ. द. रा. बेन्द्रे | १५.०० |
| युग्म | डॉ. जगदीश गुप्त | ३०.०० |
| स्वर्णरेख [ द्वि. सं. ] | बशीर अहमद 'मयूख' | ५.०० |
| संचयिता [ द्वि. सं. ] | रामधारी सिंह 'दिनकर' | ७.०० |
| स्मृति सत्ता भविष्यत् तथा अन्य श्रेष्ठ कविताएँ [ पुरस्कृत ] | विष्णु दे | १२.०० |
| शून्य पुरुष और वस्तुएँ | वीरेन्द्रकुमार जैन | १५.०० |
| संकल्प सन्त्रास संकल्प | विष्णुकान्त शास्त्री | १०.०० |
| बावरा अहेरी [द्वि. सं.] | अज्ञेय | १२.०० |
| श्रीरामायण दर्शनम् (पूर्वरंग) [द्वि. सं.] | कु. वें. पुट्टप्पा | ५.०० |
| मैं तट पर हूँ | अमृता भारती | ८.०० |
| छप्पन कविताएँ | बालमणि अम्मा | १०.०० |
| चिदम्बरा संचयन [ पुर. ] | सुमित्रानन्दन पन्त | |
| कन्नड, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बांग्ला, मलयालम– | प्रत्येक | ७.०० |
| | अँगरेजी संस्करण | ८.०० |
| प्रेरणा के मोरपंख | डॉ. कर्णसिंह | ४.०० |
| ठण्डा लोहा [ तृ. सं. ] | डॉ. धर्मवीर भारती | ७.०० |
| क्योंकि मैं उसे जानता हूँ | अज्ञेय | ५.०० |
| पक गयी है धूप | डॉ. रामदरश मिश्र | ५.०० |
| पाँच जोड़ बाँसुरी | सं. : चन्द्रदेव सिंह | १०.०० |
| प्राचीना | उमाशंकर जोशी | ६.०० |
| निशीथ [ पुर. ] | " | १०.०० |
| कितनी नावों में कितनी बार [पुर.तृ.सं.] | अज्ञेय | १५.०० |

| | | |
|---|---|---|
| आँगन के पार द्वार [पुरस्कृत, ष. सं.] | अज्ञेय | ३.५० |
| अरी ओ करुणा प्रभामय [ द्वि. सं. ] | ,, | २५.०० |
| तार सप्तक [ चतुर्थ संस्करण ] | सं. : अज्ञेय | १२.०० |
| दूसरा सप्तक [ तृ. सं. ] | ,, | |
| तीसरा सप्तक [ च. सं. ] | ,, | २१.०० |
| रूपाम्बरा | ,, | |
| एक और नचिकेता | जी. शंकर कुरुप | ४.०० |
| रंगीन रुबाइयाँ | डॉ. सदारंगानी | ३.०० |
| ओटक्कुषल (बाँसुरी) [पुर., द्वि. सं.] | जी. शंकर कुरुप | १०.०० |
| प्रतिनिधि संकलन [ कविता, मराठी ] | सं. : दिनकर सोनवलकर | ६.०० |
| अँधेरी कविताएँ [ पुर. ] | भवानीप्रसाद मिश्र | ५.०० |
| अतुकान्त | लक्ष्मीकान्त वर्मा | ५.०० |
| अभी और कुछ | शकुन्त माथुर | ४.०० |
| जो बँध नहीं सका | गिरिजाकुमार माथुर | ४.०० |
| धूप के धान [ पुरस्कृत, तृ. सं. ] | ,, | ५.०० |
| मेपल | डॉ. प्रभाकर माचवे | ४.०० |
| अनुक्षण | ,, | ४.५० |
| माया दर्पण | श्रीकान्त वर्मा | ४.५० |
| अग्निबीज | डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय | ४.५० |
| शहर अब भी सम्भावना है | अशोक वाजपेयी | ४.०० |
| इतिहास पुरुष | डॉ. देवराज | ४.५० |
| अन्धा चाँद | मुनि रूपचन्द | ३.५० |
| आत्मजयी [ पं. सं. ] | कुँवर नारायण लाइब्रेरी सं. | ९.०० |
| | पेपर बैक संस्करण | ६.०० |
| चौंसठ कविताएँ | इन्दु जैन | ४.५० |
| संक्रान्त | डॉ. कैलाश बाजपेयी | ४.०० |
| चाँद का मुँह टेढ़ा है [ छठा सं. ] | ग. मा. मुक्तिबोध | २२.०० |
| हिम-विद्ध | डॉ. जगदीश गुप्त | ४.०० |
| हम विषपायी जनम के [ द्वि. सं. ] | बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' | २०.०० |
| बीजुरी काजल आंज रही [ द्वि. सं. ] | माखनलाल चतुर्वेदी | ४.५० |
| वेणु लो गूँजे धरा [ द्वि. सं. ] | ,, | ४.५० |
| अर्द्धशती | बालकृष्ण राव | ४.०० |

| | | |
|---|---|---|
| रत्नावली | हरिप्रसाद 'हरि' | ३.०० |
| वीणापाणि के कम्पाउण्ड में | केशवचन्द्र वर्मा | ४.५० |
| आवाज़ तेरी है | राजेन्द्र यादव | ४.०० |
| देशान्तर [ द्वि. सं. ] | डॉ. धर्मवीर भारती | १२.०० |
| सात गीत-वर्ष [ तृ. सं. ] | ,, | ६.०० |
| कनुप्रिया [ सातवाँ सं. ] | ,, लाइब्रेरी संस्करण | ११.०० |
| | पेपर बैक संस्करण | ७.५० |
| वाणी [ द्वि. सं., परिवर्द्धित ] | सुमित्रानन्दन पन्त | ५.५० |
| सौवर्ण [ द्वि. सं., परिवर्द्धित ] | ,, | ४.५० |
| अविराम चल मधुवन्ती | वीरेन्द्र मिश्र | ४.०० |
| लेखनी-बेला [ द्वि. सं.] | ,, | ४.५० |
| वर्द्धमान [ महाकाव्य, पुरस्कृत ] | अनूप शर्मा | १२.०० |
| पंच-प्रदीप | शान्ति मेहरोत्रा | २.०० |
| मेरे बापू | तन्मय बुखारिया | ३.०० |

□

## भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

•



•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००१